प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ

लेखक
डा० रामविलास शर्मा

विनोद पुस्तक मन्दिर
हास्पिटल-रोड, आगरा।

प्रकाशक—

विनोद पुस्तक मन्दिर,

हॉस्पिटल रोड, आगरा।

प्रथम संस्करण मार्च १९५४.

मूल्य ३॥)

मुद्रक—

कैलाश प्रिंटिङ्ग प्रेस,

बाग मुजफ्फरखाँ, आगरा।

१६५४ में मृत्युदण्ड पाने वाले

दुखित दुसाध

महावीर तेली

गुप्तेश्वर पाठक

की

अमर स्मृति को

भूमिका

हिंदी साहित्य में किसी धारा, किसी प्रवृत्ति या किसी वाद की आज इतनी चर्चा नहीं है जितनी प्रगतिवाद या प्रगतिशील साहित्य की। आलोचना की हर पुस्तक में साप्ताहिक और मासिक पत्रों में, विद्यालयों में, विद्यार्थियों के प्रश्न पत्रों में हर कहीं इसकी चर्चा रहती है। छायावाद के बाद इतिहासकार स्वभावतः प्रगतिवाद का नाम लेने लगे हैं। पक्ष और विपक्ष में जो कुछ लिखा जाता है, उसमें जोश की मात्रा काफी होती है। कुछ लोगों को प्रगतिशील विचार-धारा अपनी तरफ खींचती है, तो दूसरों को वह बिजली के करेन्ट की तरह ठेलती हुई भी दिखाई देती है। नौजवान लेखकों पर और विद्यार्थियों पर इसका असर ज्यादा है। हम अक्सर नेकनियत बुजुर्गों को यह कोशिश करते देखते हैं कि उन्हें इस की हवा न लग जाए। कुछ दिन हुए बिहार के एक लेखक ने फतवा दिया था कि प्रगतिवाद मर गया। लेकिन मरने पर भी शायद वह भूत बन कर अपने विरोधियों को इस तरह सताता है कि उनकी सन्निपात की सी बड़बड़ाहट और भी बढ़ जाती है।

एक प्रबन्ध-संग्रह में प्रगतिवाद के लिए लिखा गया है कि वह सनातन, प्राचीन, परम्परागत एवं शाश्वत सत्यों की उपेक्षा करता है, मार्क्सवाद पर आधारित होने के कारण भारतीय आध्यात्मिक भावना के प्रतिकूल है, कामवासना का नग्नरूप उपस्थित करता है, हिंसा का आश्रय लेकर चलता है, इसलिये निंद्य है; श्रद्धा की उपेक्षा करता है, केवल आर्थिक कसौटी पर हर चीज परखता है, किसानों और मजदूरों तक ही सीमित है, इसलिए इसका क्षेत्र संकुचित है।

एक दूसरे लेखक का कहना है, शारीरिक और आर्थिक सुख ही उसका चरम लक्ष्य है, भौतिक सुख के परे उसकी दृष्टि ही नहीं जाती, प्रगतिवादी यथार्थ का नग्न-चित्रण करता है, जिसमें न काव्य है और न कला, शायद सौंदर्य और कला को भी वह पूँजीवादी वाग्विलास समझता है, उसकी दृष्टि में नारी का एक ही रूप है, उपभोग्य रमणीत्व।

एक तीसरे लेखक का कहना है कि फ्राँस के विदेशी वातावरण में भारतीय प्रगतिशील लेखक सङ्घ की स्थापना हुई, इसमें मत-स्वातन्त्र्य की बहुत गुंजाइश नहीं, प्रगतिवादी लेखक स्प्रिङ्गदार मखमली सोफों पर बैठ पर बिजली के पंखे के नीचे खस की टट्टी की ओट में पारकर पेन से मज़दूरों पर कविता लिखता है।

इस तरह के आक्षेपों के बावजूद प्रगतिवाद या प्रगतिशील साहित्य इस युग की ऐतिहासिक आवश्यकताएं—कम से कम एक हद तक—पूरी करता है और हिंदी साहित्य में उसका प्रभाव अच्छा ही पड़ा है, इस बात को बहुत से आलोचक भी मानते हैं। श्री सीताराम प्रबन्ध-पराग नाम की पुस्तक में लिखते हैं, "इसमें सन्देह नहीं कि प्रगतिवादी साहित्यकार युगधर्म को लेकर चला है।" श्री कृष्णचन्द्र विद्यालङ्कार ने प्रबन्ध-प्रकाश में लिखा है, "प्रगतिवाद, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, समय की आवश्यकता है। और यही कारण है कि छायावाद व रहस्यवाद के प्रायः सभी प्रमुख हिंदी कवियों ने अपनी दिशा बदल ली है।"

हिंदी के वयोवृद्ध आलोचक बाबू गुलाबराय अपनी पुस्तक प्रबंध-प्रभाकर में प्रगतिवाद के गुणों का उल्लेख करते हुए कहते हैं, "प्रगतिवाद हम को स्वार्थ परायण व्यक्तिवाद से हटा कर समष्टिवाद की ओर ले गया है। उसने लेखकों को शैया सेवी अकर्मण्य नहीं रखा है।"

प्रगतिशील साहित्य के विकास की सम्भावनाओं के बारे में श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी 'हिंदी साहित्य' में लिखते हैं "प्रगतिशील आंदोलन बहुत महान उद्देश्य से चालित है। इसमें साम्प्रदायिक भाव का प्रवेश नहीं हुआ तो इसकी सम्भावनाएं अत्यधिक हैं। भक्ति आन्दोलन के समय जिस प्रकार एक अदम्य दृढ़ आदर्श निष्ठा दिखाई पड़ी थी, जो समाज को नए जीवन दर्शन से

चालित करने का सङ्कल्प वहन करने के कारण अप्रतिरोध्य शक्ति के रूप में प्रगट हुई थी, उसी प्रकार यह आन्दोलन भी हो सकता है।"

प्रगतिशील साहित्य की लोकप्रियता का एक सबूत यह है कि ऐसे लेखक जो प्रगतिवाद के विरोधी हैं, अपनी विचारधारा को सच्चा प्रगतिवाद कह कर पेश करते हैं। मिसाल के लिए श्री इलाचन्द्र जोशी "विवेचना" में प्रगतिवादी लेखकों से कहते हैं कि "यदि वे सच्चे हृदय से यह मानते और चाहते हैं कि प्रगतिवाद के नाम पर किसी भी यथास्थित्यात्मक जगद्व्याल को (चाहे वह मार्क्सीया ही क्यों न हो) अपनाए रहना घोर मूर्खता है, तो मैं उनसे अनुरोध करूँगा कि वे मेरे नए प्रगतिवाद का अनुसरण करें, जिसमें वास्तविक वाह्य प्रगति तथा अन्तरीण प्रगति को समान-समन्वयात्मक रूप से अपनाया गया है। कई वर्षों से विभिन्न निबंधों द्वारा मैं जिस महत्वपूर्ण नए प्रगतिशील दृष्टिकोण को समझाने का प्रयत्न करता आ रहा हूँ, उसे सम्बद्ध रूप से समझने का सुयोग उन्हें पुस्तकाकार में एकत्रित निबंधों द्वारा मिल सकेगा।"

इस महत्वपूर्ण प्रगतिशील दृष्टिकोण के बावजूद जो प्रगतिवाद चल पड़ा है उसके बारे में इलाचन्द्रजी कहते हैं "छायावादी युग ने कवियों को अंतर्लोक की गहनता में डुबा कर एकान्त आत्मचिंतन में मग्न कर दिया था और सामूहिक जीवन की विराट वास्तविकता से साहित्य संसार को विमुख कर दिया था। प्रगतिवाद ने वाह्य जगत के जीवन सङ्घर्ष की ओर हमारी चेतना को उन्मुख कर साहित्य का बहुत बड़ा उपकार किया है। यह बात हमें किसी भी हालत में नहीं भुलानी होगी।"

श्री क्षेमचन्द्र सुमन और श्री योगेन्द्रकुमार मल्लिक की पुस्तक "साहित्य विवेचन" की भूमिका में प्रगतिवादी समीक्षा की बहुत सी खामियों का उल्लेख करने के बाद श्री नन्ददुलारे वाजपेयी कहते हैं "उसने दो वस्तुएं मुख्य रूप से दी हैं। प्रथम यह कि काव्य साहित्य का सम्बन्ध सामाजिक वास्तविकता से है, और वही साहित्य मूल्यवान है जो उक्त वास्तविकता के प्रति सजग और संवेदनशील है; द्वितीय यह कि जो साहित्य सामाजिक वास्तविकता से जितना ही दूर होगा, वह उतना ही काल्पनिक और प्रतिक्रियावादी कहा जाएगा। न केवल सामाजिक दृष्टि से वह अनुपयोगी होगा, साहित्यिक दृष्टि से भी हीन

और ह्रासोन्मुख होगा। इस प्रकार साहित्य के सौष्टव-सम्बन्धी एक नई माप रेखा और एक नया दृष्टिकोण इस पद्धति ने हमें दिया है जिसका उचित उपयोग हम करेंगे।"

इन उद्धरणों से यह बात जाहिर हो जाती है कि प्रगतिशील साहित्य अपने युग की माँग को पूरा करने वाला साहित्य है। उसकी शक्ति इस बात में है कि वह समाज के वास्तविक जीवन के निकट है। इसमें सन्देह नहीं कि आम लोगों की धारणा यह है कि जनता का पक्ष लेकर लड़ने वाला साहित्य प्रगतिशील है। शायद इसीलिये उसके विरोधी नाराज होकर विदेशी प्रभाव, मार्क्सवाद की कट्टरता, कम्युनिस्ट पार्टी की दासता का आरोप प्रगतिशील लेखकों पर करते हैं। लेकिन जो साहित्य जनता का पक्ष लेगा, वह जरूर शक्तिशाली होगा और अजेय गति से आगे बढ़ता जायगा।

प्रगतिवाद अलग है, प्रगतिशील साहित्य कोई और चीज है, इस तरह का सूक्ष्म भेद किया गया है। जैसे छायावादी कवि की रचनाएं छायावाद से भिन्न नहीं है, वैसे ही प्रगतिशील या प्रगतिवादी लेखकों की रचनाएं प्रगतिवाद से भिन्न नहीं हैं। हिन्दी आलोचना में प्रगतिशील और प्रगतिवाद का उसी तरह व्यवहार होता है जैसे छायावाद और छायावादी का। एक आलोचक का विचार है कि मार्क्सीय सौंदर्य शास्त्र का नाम प्रगतिवाद है। लेकिन बीसवीं सदी के भरत मुनि या अरस्तू के अभाव में वह सौंदर्य शास्त्र अभी रचा नहीं जा सका। इस तरह प्रगतिवाद एक भविष्य की वस्तु ठहरती है जो किसी भावी सौंदर्य शास्त्री के जन्म पर अवलम्बित है। ऐसे प्रगतिवाद की चर्चा करना हमारा उद्देश्य नहीं है। उद्देश्य है उस नई विचारधारा और साहित्य की चर्चा करना जिसे लोग प्रगतिवाद या प्रगतिशील साहित्य कहते हैं और जिसका प्रसार लगभग सन् ३० के बाद हिंदी साहित्य और हिन्दुस्तानी समाज की ऐतिहासिक परिस्थितियों में हुआ है। प्रगतिशील साहित्य की समस्याओं का यहां मतलब है हिंदी साहित्य के विकास की समस्याएं। इसलिए इस पुस्तक में मार्क्सवाद और सौंदर्य शास्त्र का गम्भीर विवेचन न मिले तो पाठक रुष्ट न हों। सम्भव है इस पुस्तक में कुछ ऐसी समस्याएं छूट गईं हों जो पाठकों के लिए महत्वपूर्ण हों या ऐसी आ गई हों जो उनके लिए महत्वहीन हों। लेखक

के लिए मूल समस्या यह है कि हम अपने साहित्य की जातीय विशेषताओं की रक्षा करते हुए किस तरह उन्हें विकसित करें कि हमारी जनता की चेतना निखरे और वह आज के दुखों और अभावों की दुनियाँ से निकल कर सुख और स्वाधीनता के प्रकाश में साँस ले सके। यदि यह समस्या महत्वहीन है तो सारा साहित्य भी निरुद्देश्य है। यदि महत्वहीन नहीं है, सिर्फ उस पर अच्छी तरह प्रकाश नहीं डाला गया या ठीक से उसे पेश भी नहीं किया गया तो इस काम में अपनी आलोचना द्वारा आप मेरा हाथ बटाएँ, इसके लिए मैं आप को सादर आमंत्रित करता हूँ।

गोकुलपुरा, आगरा। —रामविलास शर्मा

५-३-५४.

विषय-तालिका

साहित्य का उद्देश्य

(१)

"साहित्य की परख" नाम के निबन्ध में श्री शिवदानसिंह चौहान कहते हैं, "कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है, उसकी सृजन-चेष्टा बाह्य जीवन के अनुभव और सौन्दर्य-मूलक प्रवृत्ति अर्थात् व्यवस्था, सामञ्जस्य और मुक्तिकामी निसर्ग-चेष्टा से उत्प्रेरित होती है।"

अगर कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है तो साहित्य में प्रगतिशील या प्रतिक्रियावादी का भेद करना निरर्थक है। उसके पास दो चीजें होनी चाहिये, एक तो अनुभव, दूसरी सौन्दर्यमूलक प्रवृत्ति। ये दो हों तो वह स्वभावतः प्रगतिशील होगा।

लेकिन यह जो अनुभव कलाकार हमें देता है, सामाजिक जीवन से निरपेक्ष नहीं होता। सामाजिक जीवन को स्वभावतः प्रगतिशील कहने का साहस चौहान ने भी नहीं किया। सामाजिक जीवन में कुछ तत्त्व प्रगतिशील होते हैं, कुछ प्रतिक्रियावादी। इन दोनों के विरोध से समाज को गति मिलती है। कोई भी साहित्यकार समाज में रह कर उसके विकास की इस प्रक्रिया से तटस्थ नहीं रह सकता।

वास्तव में जो लोग कहते हैं कि साहित्य स्वभाव से ही प्रगतिशील होता है, वे अप्रत्यक्ष रूप से यह मानकर चलते हैं कि साहित्य प्रतिक्रियावादी भी होता है। प्रगतिशील शब्द सापेक्ष अर्थ का बोधक है। कोई भी घटना-प्रवाह किसी की तुलना ही में प्रगतिशील होगा। इसलिये निरपेक्ष अर्थ में प्रगतिशील शब्द का व्यवहार कर सकना मुमकिन नहीं है।

न केवल कलाकार का सामाजिक अनुभव निरपेक्ष नहीं है, उसकी सौन्दर्य-मूलक प्रवृत्ति भी सामाजिक विकास और सामाजिक संबन्धों से परे नहीं है। किसी भी समाज विशेष के मनुष्य की सौन्दर्यमूलक प्रवृत्ति उसके समूचे ऐतिहासिक विकास का परिणाम होती है।

यह साबित करने के लिये कि साहित्यकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है, चौहान ने "आलोचना" (नं० १) के संपादकीय में महान् लेखकों का उदाहरण दिया है। उन्होंने लिखा है, "इसमें सन्देह नहीं कि महान् लेखकों की रचनाओं में अपने-अपने काल की सामाजिक विचार-धाराएँ व्यक्त हुई हैं और उनकी कृतियाँ अपने समय के ऐतिहासिक वास्तव से पूर्णतः सम्बद्ध हैं।"

सवाल महान् लेखकों का ही नहीं है, सवाल साधारण लेखकों का भी है। पहला सूत्र था, कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है। क्या अब हम कहें, कलाकार स्वभावतः महान् भी होता है? और अगर वह महान् है तो उसकी महत्ता की कसौटी क्या है?

चौहान आगे लिखते हैं, "लेकिन इन महान् लेखकों को किसी शोषक वर्ग के खूँटे से बाँध कर जाँचना व्यर्थ होगा, क्योंकि उनकी रचनाओं में अपने समय का समग्र जीवन, तमाम वर्गों के अन्तः सम्बन्ध प्रतिबिंबित हुए हैं और इस प्रकार उस युग की मूल समस्याओं का उद्घाटन हुआ है।"

इसका मतलब यह हुआ कि महान् लेखक अपने युग की मूल (सामाजिक) समस्याओं का उद्घाटन अपने साहित्य में करते हैं। हर तरह का अनुभव लेखक को बड़ा बनाने के लिये काफी नहीं है; अनुभव मूल समस्याओं का उद्घाटन करने वाला होना चाहिये।

चौहान आगे लिखते हैं, "इसी कारण उनकी रचनाओं में शोषण-दोहन की विचारधाराओं के प्रति गहरे प्रतिवाद की मुखर ध्वनि है और आज़ादी और समानता की विचारधारा के प्रति गहरा मोह है। महान् लेखक यथार्थवादी और अपने समय के आलोचक थे। वस्तुतः वह अपने काल के वर्ग-समाज के विद्रोही थे। इसलिये महान् लेखक चाहे जिस काल में और चाहे जिस वर्ग में पैदा हुए हों, वह मूलतः मानववादी थे। उनकी महानता का यही रहस्य है कि उन्होंने 'मनुष्य' को ही प्रमाण और प्रतिमान माना, जिससे उनकी सहानु-

भूतियाँ मानव-मात्र तक प्रसरित हुईं—विश्वजनीन बनीं।"

इस स्थापना में चौहान के पहले सूत्र की सौन्दर्यमूलक प्रवृत्ति छूट गई है; महत्ता का कारण बतलाते हुए विषयवस्तु पर ही ज़ोर दिया गया है।

चौहन के वाक्यों से यह भी स्पष्ट है कि इन महान् लेखकों का मानववाद सभी मानवों के प्रति सहानुभूति प्रसरित नहीं करता। ऐसे समाज में जहाँ वर्ग और उनका परस्पर विरोध मौजूद हों, वे शोषकों का दृष्टिकोण न अपनाकर जन-साधारण का दृष्टि कोण अपनाते थे। इस तरह साहित्य वर्गों से परे न हुआ बल्कि उनके सम्बन्धों और संघर्ष को प्रतिबिंबित करने वाला हुआ। और महान् लेखक वही कहलाता है जो सामाजिक यथार्थ की मूल समस्याओं का उद्‌घाटन करता है और जनता के उत्पीड़कों की आलोचना करता है, उनके प्रति विद्रोह तक करता है। इसलिये उसके मानववाद का भी एक वर्ग-आधार होता है। वह "मानव-मात्र" तक अपनी सहानुभूतियाँ प्रसरित नहीं करता। उसकी सहानुभूतियाँ विश्वजनीन एक सीमित अर्थ में ही होती हैं,—जन-साधारण के लिये विश्वजनीन न कि वर्ग भेद छोड़कर समान रूप से सभी के लिये।

महान् शब्द भी सापेक्षता मूलक है। जहाँ महान् लेखक होंगे, वहाँ अ-महान् लेखक भी होंगे। जहाँ कुछ लेखक वर्ग-समाज के प्रति विद्रोही होंगे, वहाँ कुछ उसके हिमायती भी निकल आयेंगे। जहाँ कुछ लेखक मूल समस्याओं का उद्‌घाटन करेंगे, वहाँ कुछ ऐसे भी होंगे जो अ-मूल को ही मूल कह कर पेश करेंगे। इस तरह साहित्य में दो धाराओं का अस्तित्व स्वीकार करना ही पड़ेगा, उन्हें चाहे महान् और अमहान् कहिये चाहे प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी कहिये। इसलिये यह स्थापना कि कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है, सही साबित नहीं होती।

महान् लेखकों को वर्ग-समाज का विद्रोही मानने पर कलाकार या आलोचक से तटस्थता की माँग करना आश्चर्यजनक है। चौहान ने "साहित्य की परख" में तटस्थ होने की कठिनाई बयान करते हुए कहा है, "वर्तमान में हमारी दृष्टि बहुत संकुचित और सीमित रहती है—वस्तुएँ, घटनाएँ, भावनाएँ, रागद्वेष अपनी अति निकटता के कारण सारे दृष्टिपट पर छा जाते हैं और

निर्णेता स्वयं व्यक्तिगत या सामाजिक रूप से इन घटनाओं या भावनाओं से अपने को निर्लिप्त और निस्संग नहीं रख सकता ; अतः जो उसे महत्वपूर्ण लगता है वही स्थायी और सुन्दर भी लग सकता है।"

अगर महान् लेखक निःसंग और निर्लिप्त नहीं होता, वह वर्ग संघर्ष से तटस्थ न रह कर शोषण व्यवस्था का विरोध करता है, तो उसका मूल्याङ्कन करने वाला आचोचक ही उस संघर्ष से तटस्थ क्यों हो ? क्या यह अधिक स्वाभाविक नहीं है कि वह जितना ही जन-साधारण का पक्ष लेगा, उतना ही जन-साधारण का पक्ष लेने वाले साहित्य का मूल भी वह समझेगा ? इसलिये न तो साहित्यकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है, न आलोचक। वे प्रगतिशील तभी होते हैं जब वे जन-साधारण का पक्ष लेते हैं।

चौहान ने "आलोचना" (नं० ५) में साहित्य और कला की यह व्याख्या दी है, "साहित्य और कला वस्तु चित्रों तथा मानव-चरित्रों की भाषा में जीवन के वैविध्यपूर्ण और परस्पर विरोधी सम्बन्धों और अन्तर्सम्बन्धों के यथार्थ को उसके गर्भ में विकासमान संभावनाओं की दृष्टि से मूर्त और कलात्मक रूप में प्रतिबिंबित करती हैं। साहित्य और कला की कृतियाँ इसका परिणाम होती है।"

समाज के परस्पर विरोधी संबन्ध और उनके गर्भ में विकास-मान संभावनाओं की दृष्टि—साहित्यकार के लिये दो चीजें आवश्यक हुईं, एक तो सामाजिक यथार्थ जिसका वह चित्रण करेगा, दूसरी वह दृष्टि जिससे वह उस यथार्थ को जाने पहचानेगा। लेकिन न तो हर साहित्यकार यथार्थ को एक ही दृष्टि से देखता है, न उससे एक सी सामग्री लेकर साहित्य में चित्रित करता है। इसलिये चौहान की व्याख्या सभी साहित्य और सभी कला पर लागू नहीं होती। यह व्याख्या साहित्य को स्वभावतः प्रगतिशील या स्वभावतः महान् मान कर की गई है। लेकिन जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, सभी साहित्य प्रगतिशील या महान् नहीं होता।

चौहान की व्याख्या में यह भी ध्यान देने की बात है कि सौन्दर्यमूलक प्रवृत्ति फिर ग़ायब है। यहाँ केवल दृष्टिकोण, समाज के संबन्धों पर जोर है; इनका माध्यम वस्तुचित्रों और मानव चरित्रों की भाषा है। पतानहींयह भाषा

स्वभाव से ही सौन्दर्य मूलक है या नहीं। अनुभव यही बतलाता है कि सुघड़ और अनगढ़ का भेद यहाँ भी बराबर देखने को मिलता है।

चौहान की व्याख्या में दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि उसके दोनों वाक्यों में परस्पर कोई संबन्ध नहीं है। पहले वाक्य में साहित्य और कला क व्याख्या की गई है। दूसरे वाक्य में कहा गया है कि साहित्य और कला की कृतियाँ "इसका" परिणाम होती हैं। "इसका" में किस क्रिया की तरफ संकेत है, यह पता नहीं लगता। अगर कला की कृतियाँ चौहान की व्याख्या का परिणाम हों तो दूसरी बात है।

साहित्य को परखने की वैज्ञानिक कसौटी बतलाते हुए चौहान उसी नोट में आगे कहते हैं, "उनकी या किसी भी युग के कलाकार और साहित्यकारों की प्रतिभा, ईमानदारी और उनकी कृतियों की कलात्यक श्रेष्ठता को परखने की वैज्ञानिक कसौटी भी यही है कि जाँच कर के यह देखा जाय कि अपने जीवन काल की ऐतिहासिक परिस्थितियों द्वारा प्राप्त अनिवार्य विचार सीमाओं के होते हुए भी उन्होंने सच्चे कलाकार की सत्यान्वेषी वस्तुनिष्ठा से अपने युग जीवन की वास्तविकता या सत्य का कितना यथार्थ और मूर्त चित्रण किया।"

यह युग जीवन की वास्तविकता हर युग में एकसी है या अलग-अलग? अगर एक सी होती तो अपने जीवन काल की ऐतिहासिक परिस्थितियों द्वारा प्राप्त विचार सीमाओं का सवाल न उठता। इसका मतलब यह हुआ कि साहित्य की कसौटी ऐतिहासिक होनी चाहिए, उसकी परख किसी अपरिवर्तन-शील युग-सत्य के आधार पर नहीं होती।

चौहान की व्याख्या में कलाकार से माँग की गयी है कि सत्यान्वेषी वस्तु-निष्ठा से वास्तविकता का यथार्थ चित्रण करे। सारा ज़ोर सत्य, वास्तविकता और यथार्थ पर है। यानी वास्तविक कलाकार वास्तविकतान्वेषी वस्तुनिष्ठा से वास्तविकता का वास्तविक चित्रण करे। अथ से इति तक कहीं वास्तविकता का पल्ला नहीं छूटने पाया।

चौहान ने यह कसौटी कलाकार की प्रतिभा और ईमानदारी परखने के लिये ही नहीं, उसकी कृतियों की कलात्मक श्रेष्ठता परखने के लिये भी बताई

है। लेकिन युग-जीवन की वास्तविकता अखंड इकाई नहीं है। कोई भी युग-सत्य द्वंद्व से परे नहीं होता। आज के युग का सत्य यह है, एक तरफ जनता साम्राज्यवाद से मुक्ति के लिये संघर्ष कर रही है, दूसरी तरफ साम्राज्यवादी ताकतें और उनके हिमायती उसे दबाने और गुलाम बनाये रखने की कोशिश कर रहे हैं। इस द्वंद्व में कलाकार किसी अद्वैत युगसत्य का सहारा न लेकर जनता या उसके विरोधियों का पक्ष लेता है। इसलिये स्वभावतः प्रगतिशील न होकर उसे युगविशेष और समाज विशेष के संघर्ष में जनता का पक्ष लेने पर ही प्रगतिशील कहा जा सकता है।

उसकी कलाकृति सुंदर है या असुंदर, यह उसके मूर्त चित्रण पर ही निर्भर नहीं करता। अनुभव बतलाता है कि साहित्य में अंकित हर मूर्ति सुंदर नहीं होती।

लेकिन अपने युग के या और किसी पिछले युग के साहित्यकार ने जो युग-सत्य प्रकट किया है, उसकी सत्यता को जानने का क्या उपाय है? मोटे तौर पर सच और झूठ का भेद छिपा नहीं रहता। झूठ बोलने वाले की आँखें गवाही दे जाती हैं। लेकिन कुछ लोग झूठ बोलने की कला में ऐसे प्रवीण होते हैं कि वे उसे सत्य से ज्यादा प्रभावशाली बना देते हैं। इसलिये साहित्य में प्रतिबिंबित यथार्थ को परखने के लिये समाज की जानकारी आवश्यक है। साहित्य का इतिहास समाज के इतिहास से अलग न होकर उसका एक अंग होता है।

साहित्य को परखने की यह कसौटी समाजशास्त्रीय हुई या असमाज-शास्त्रीय?

"आलोचना" (नं० १) के संपादकीय में चौहान ने लिखा है, "आचार्य शुक्ल के पश्चात् हिन्दी-आलोचना ने अपने विकास के लिये नये पथ खोजे—समाजशास्त्र का आधार लेकर 'प्रगतिवाद' और मनोविज्ञान का आधार लेकर 'प्रतीकवाद' की विचारधाराएँ साहित्यालोचन का दृष्टिकोण बनीं। परन्तु पिछले कई वर्षों से हिन्दी का आलोचना-साहित्य एक अवांछित गतिरोध की स्थिति में पड़कर मनमाने पथों पर भटकता रहा है।"

इससे यही पता चलता है कि आरंभ में प्रगतिवाद ने समाजशास्त्र का

आधार लिया, सो ठीक किया। सिर्फ बाद में कुछ लोगों ने उसे पथभ्रष्ट कर दिया। चौहान ने अक्सर जो कुत्सित समाजशास्त्र की बात कही है, उससे भी अन्दाज़ यही लगता है कि अकुत्सित समाजशास्त्र उन्हें पसन्द है। लेकिन आलोचना (नं० ४) में वह समाजशास्त्र और ऐतिहासिक भौतिकवाद में भेद करते हुए लिखते हैं, "प्रश्न है कि क्या प्रगतिवादी प्रगतिवाद को सचमुच प्रगतिवाद बनाने का दायित्व सँभालेंगे और समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण त्यागकर ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण अपनायेंगे ? क्या आज भी यह दुहराने की ज़रूरत है कि मार्क्सीय सौन्दर्य-शास्त्र का दृष्टिकोण समाजशास्त्रीय नहीं बल्कि ऐतिहासिक भौतिकवादी है ? "

मालूम होता है समाजशास्त्र तो समाज का शास्त्र है और ऐतिहासिक भौतिकवाद समाज का शास्त्र न होकर और किसी चीज़ का शास्त्र है। इसलिये यह मौलिक भेद किया गया है। अगर बात ऐसी है तो समाजशास्त्र को आधार बनाकर प्रगतिवाद ने शुरू से ही ग़लती की थी ; कुछ लोगों ने उसे और भी कुसित्त बनाकर कोई मौलिक ग़लती नहीं की बल्कि उस पहली गलती को ही और भारी भरकम बना दिया। साहित्य की व्याख्या करते हुए चौहान कहाँ "समाजशास्त्र" का सहारा लेते हैं, कहाँ ऐतिहासिक भौतिकवाद का, यह कहना काफी कठिन है।

शायद ऐतिहासिक भौतिकवाद समाजविज्ञान तो है, लेकिन समाजशास्त्र नहीं है। क्योंकि "साहित्य की परख" में उन्होंने लिखा है कि प्रगतिवाद की विचारधारा मार्क्सवादी दर्शन 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' और "मार्क्सवादी समाजविज्ञान 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' से प्रभावित है। " इससे ऐतिहासिक भौतिकवाद के बारे में इतना तो मालूम हो जाता है कि वह समाजविज्ञान है, अवश्य हर तरह का समाज-विज्ञान नहीं, मार्क्सवादी समाज विज्ञान। तब क्या समाज-विज्ञान और समाजशास्त्र में कोई मौलिक भेद है ? या "शास्त्र" होने से ही एक रूढ़िवादी और "विज्ञान" होने से दूसरा प्रगतिशील है ?

लेकिन एक बात तो पक्की है कि हर साहित्यकार स्वभावतः प्रगतिशील नहीं होता और उसके प्रतिक्रियावाद या प्रगतिशीलता को जाँचने के लिये यह देखना होता है कि वह अपने सामाजिक जीवन में उस समय की प्रगतिशील

शक्तियों का साथ देता है या प्रतिक्रियावादी शक्तियों का।

(२)

देखना चाहिए कि वह कुत्सित समाजशास्त्र क्या है जिसने प्रगतिवाद या प्रगतिशील साहित्य को पथभ्रष्ट कर दिया।

"साहित्य की परख" में चौहान ने कुत्सित समाजशास्त्रियों के द्वैतवादी दृष्टिकोण का यों उल्लेख किया है, "प्रगतिवादी समीक्षकों में साहित्य के 'कलापक्ष' और 'सामाजिक पक्ष' के संबन्ध में एक द्वैतभावना बनी हुई थी और वे इस बात का निर्णय न कर पाते थे कि किसी रचना में इन दोनों तत्वों का समावेश किस मात्रा और अनुपात में होता है, अथवा उनमें किसका आत्यंतिक महत्व है। इस विकृत यांत्रिकता का ही परिणाम था कि प्रगतिवादी आलोचना ने व्यवहारतः किसी रचना में व्यक्त विचारों को ही उस रचना के साहित्यिक मूल्य की कसौटी मान लिया और स्वयं कवि पंतने भी—

तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार,
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार।

प्रश्न करके इस द्वैतभावना को अपनी एक कविता में उदात्त अभिव्यक्ति दे दी थी।"

कुत्सित समाजशास्त्र के लिये कलापक्ष और सामाजिक पक्ष में भेद होता है। क्या चौहान साहित्य की विषयवस्तु और कला को एक ही चीज़ समझते हैं? द्वैतभावना तभी मिट सकती है जब कला को हम विषयवस्तु समझें और विषयवस्तु को कला। इस तरह जीवन की घटनाएँ साहित्य में प्रतिबिंबित हुए बिना भी साहित्य हो जायेंगी और छंद, अलंकार, चित्रण-कौशल, शैली-सौन्दर्य आदि विषयवस्तु के बिना ही हमें लोकोत्तर आनन्द देने लगेंगी।

लेकिन साहित्य की विषयवस्तु और उसकी कला दोनों एक चीज़ नहीं हैं। ये दोनों ही संबद्ध होकर साहित्य बनती हैं, दोनों की एकता साहित्य के लिये ज़रूरी है। लेकिन कला और विषयवस्तु दोनों ही समान रूप से साहित्य रचना के लिये निर्णायक महत्व की नहीं है। निर्णायक भूमिका हमेशा विषयवस्तु की होती है। जिसके पास उच्चकोटि के विचार नहीं हैं, भावावेश नहीं है, यथार्थ का गहरा ज्ञान नहीं है, वह सिर्फ कला को निखारने की कोशिश करके उत्कृष्ट

साहित्य नहीं रच सकता। जिसके पास ये चीज़ें हैं, उसके पास मूलवस्तु है, प्रयत्न करने पर वह उसे कलात्मक रूप दे देगा। वाल्मीकि ने जब क्रौञ्चवध से क्षुब्ध होकर "शोकः श्लोकत्वमागतः" का अनुभव व्यक्त किया था, तब उन्होंने शोक और श्लोक—विषय वस्तु और कला का सापेक्ष महत्व भी बतला दिया था। इसलिये प्रगतिशील आलोचना ने भी व्यंजना की अपेक्षा विचारों को ही अधिक महत्व पूर्णसमझा है और साहित्यकारों को मुख्यतः उन्हीं के अनुसार परखा है।

दिलचस्प बात यह है कि पंतजी जब जन-मन तक अपने विचार पहुंचाने की बात कहते थे तब वह चौहान के लिये कुत्सित समाजशास्त्रियों की श्रेणी में थे। जब वह "राजभवन हे राजभवन जन-मन के मोहन" का राग अलापने लगे तब वह देशकाल की समस्याओं से परे रहने वाले चिर प्रगतिशील, चिर महान् कलाकार बन गये।

आश्चर्य है कि द्वैत भावना जैसी घटिया चीज़ को, चौहान के अनुसार, पंतजी ने उदात्त अभिव्यक्ति दी! चौहान की आलो .ना एक क्षण के लिये द्वैत भावना के वशीभूत होकर उदात्त अभिव्यक्ति अ र अ ,., स विषयवस्तु में भेद करती हुई दिखाई देती है।

चौहान ने आगे लिखा है, "गत वर्षों में जिन लोगों ने प्रगतिवाद की विचारधारा को सामयिकता और राजनीतिक-प्रचार की सीमा में बाँधकर साहित्य की कसौटी को अवसरवादी बनाने की चेष्टा की है, । वह अनायास और अकारण ही नहीं। ये लोग वास्तव में उस द्वैत भावना से आक्रान्त हैं जिसका उल्लेख मैं पहले कर चुका हूँ.... ।"

द्वैत भावना का असली मतलब अब खुलता है। सवाल यह नहीं है कि विचारों और कलात्मक सौन्दर्य में सामंजस्य हो; सवाल यह है कि ये विचार सामयिकता और राजनीतिक प्रचार की सीमाओं से परे हों या नहीं। चौहान के लिये कुत्सित समाज शास्त्र की मौलिक समस्या यह है कि लेखक सामयिक राजनीति से अलग रहे या उसे अपना कर चले।

विश्व साहित्य से कुत्सित समाजशास्त्र की मिसालें देते हुए चौहान ने लिखा है, "उदाहरण के लिये रूसो और वोल्तेयर ने अथवा आधुनिक काल

में ही गोर्की ने फ्रान्स और रूस की क्रान्तियों के अवसर पर तत्कालीन प्रश्नों को लेकर जो रचनाएँ कीं या आयर्लैण्ड की क्रान्ति के अवसर पर शेली ने जो अपीलें छापकर बाँटी उनका आज कोई साहित्यिक मूल्य नहीं रहा।"

सामयिकता में फँसने का यह नतीजा होता है कि गोर्की वोल्तेयर और शेली जैसे समर्थ कलाकार भी साहित्यिक मूल्य की चीज़ें न दे पाये। इसलिये रूस के मज़दूर आन्दोलन को लेकर गोर्की ने जो "माँ" नाम का उपन्यास लिखा, शेली ने यूनान, इटली ब्रिटेन आदि के स्वाधीनता-आन्दोलनों और जन-संघर्षों पर जो रचनाएँ कीं, उनका कोई मूल्य नहीं रहा। चौहान के मुताबिक ये सब एक समय अवसरवादी कलाकार थे। वे सामयिकता से मुक्त न होकर उसी में फँस कर रह गये।

चौहान का कुत्सित समाजशास्त्र-विरोध संसार के अनेक क्रान्तिकारी साहित्यकारों की विरासत का विरोध साबित होता है। एक तरफ तो वह गोर्की, शेली और वोल्तेयर की उस क्रान्तिकारी विरासत को ठुकराते हैं जो सामयिकता में डूबी हुई थी और जिसने इतिहास को बदलने में मानव समाज को प्रेरणा दी। दूसरी तरफ़ वह ब्रिटेन के टी० ऐस० इलियट जैसे फासिस्ट लेखकों का तटस्थतावाद अपना कर सौन्दर्य शास्त्र को भरा पूरा बनाने की बात कहते हैं। मार्क्सवाद को अपूर्ण कह कर, उसे भरा पूरा बनाने के नाम पर वह आई० ए० रिचार्डस जैसे पच्छिम के पतनशील आलोचकों से समझौता करने का आदेश देते हैं।

हिन्दी की प्रगतिशील आलोचना आचार्य शुक्ल आदि की विरासत को अपने में समो कर ही आगे बढ़ सकती है, एक हद तक आगे बढ़ी है। लेकिन चौहान को एकांगी समाज शास्त्रीय दृष्टिकोण के दोषी मार्क्सवादी लेखक ही नहीं दिखाई देते, बल्कि स्वयं शुक्लजी जैसे राष्ट्रीय विचार धारा से प्रेरित लेखक भी उससे पीड़ित दिखाई देते है। आलोचना (नं० ५) में वह लिखते हैं, "शुद्ध कलावादी दृष्टिकोण से तो इतिहास नहीं लिखे गये लेकिन न्यूनाधिक मात्रा में एकाँगी समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण आचार्य शुक्लजी से लेकर आज तक अपनाये जाते रहे हैं, चाहे ये समाज शास्त्रीय दृष्टिकोण राष्ट्रीय विचार-धारा से प्रेरित हों या मार्क्सवादी विचारधारा से।"

इसका मतलब यह है कि अधिकांश हिन्दी आलोचकों ने पच्छिम के घटिया सिद्धान्त "कला कला के लिये" को नहीं अपनाया। उनके लिये कला और उपयोगिता के बीच कोई दुर्भेद्य खाई नहीं रहीं; वे साहित्य को सामाजिक विकास क्रम से अलग करके नहीं बल्कि उसके साथ जोड़कर उसे देखते रहे हैं। यह कोई नहीं कह सकता कि वे कलात्मक सौन्दर्य के विरोधी थे या उन्होंने साहित्य में विचारों को ही एक मात्र कसौटी बनाया था। फिर भी चौहान को उनका दृष्टिकोण एकांगी समाजशास्त्रीय लगता है। क्यों? इसलिये कि लोक-मंगल की भावना को साहित्य की परख में उस हद तक कसौटी बनाना भी उन्हें पसन्द नहीं है, जिस हद तक शुक्लजी ने या दूसरे आलोचकों ने उसे बनाया था।

चौहान ने शुक्लजी आदि के साथ मार्क्सवादी आलोचकों को जोड़ कर जो दोनों के दृष्टिकोण को एकांकी समाजशास्त्रीय कहा है, "वह इस बात का प्रमाण है कि प्रगतिशील आलोचना अपनी परंपरा से नाता तोड़ कर कोई विदेश से आई हुई चीज़ नहीं है। वह आचार्य शुक्ल जैसे आलोचकों के साहित्य-सिद्धान्तों का मूल्याङ्कन करके, उन्हें विकसित करते हुए आगे बढ़ रही है।

चौहान को यह ह्रास आलोचना ही में नहीं दिखाई देता। उनकी राय में यह ह्रास चौतर्फा व्याप गया है; समूचा साहित्य उसकी लपेट में आ गया है। "आलोचना" (नं० ६) में वह लिखते हैं, "किन्तु रवीन्द्र, शरत्, इक़्बाल और प्रेमचन्द की पीढ़ी समाप्त होते ही हमारे देश की विभिन्न भाषाओं और कलाओं में जैसे यह द्वितीय उत्थान भी समाप्त हो गया। ....प्रगतिशीलों ने इस ह्रास को रोकने की कोशिश की लेकिन वे स्वयं समस्या के ऊपरी रूप से ही परिचित थे, उसके वास्तविक रूप को पहचानने की अन्तर्दृष्टि उनमें उस समय न थी।"

चौहान की परेशानी हिन्दी भाषा तक सीमित नहीं है। वह भारत की सभी भाषाओं के साहित्य में ह्रास के अंदेशे से दुबले हैं। इन भाषाओं के लेखक जनता के कंधे से कंधा मिला कर जो साहित्य रचते रहे हैं, वह चौहान की दृष्टि से ओझल है। आज हिन्दी में अज्ञेय जैसे साम्राज्यवाद के दोस्तों का

यह प्रचार है कि साहित्य में प्रतिभाएँ हैं नहीं और जो हैं उन्हें मार्क्सवादी गुमराह कर रहे हैं। चौहान के लिये भी प्रेमचन्द के बाद सभी भाषाओं के साहित्य में ह्रास शुरू हो गया और प्रगतिशील लेखक समस्या के ऊपरी रूप से ही परिचित थे।

चौहान आज की परिस्थितियों से निराश होकर लिखते हैं, "आज की प्रतिकूल परिस्थितियों में राष्ट्रीय सांस्कृतिक जीवन एक व्यंग्य पूर्ण हकीकत बन गया है, जिसमें उच्चकोटि का साहित्य और कला का फलना फूलना संभव नहीं दीखता।"

हमारे देश में सांस्कृतिक विकास के लिये प्रतिकूल परिस्थितियाँ कौन-सी हैं? एक तरफ आर्थिक राजनीतिक कारण हैं, साम्राज्यवाद का अधिकतम मुनाफे वाला शोषण है, किसानों पर क़र्ज़, लगान और महँगाई का बोझ है, भुखमरी, बेकारी और लाठी-गोली का रामराज है। दूसरी तरफ सांस्कृतिक कारण हैं, साम्राज्यवादी सामन्ती संस्कृति का दबाव है, जनता की निरक्षरता है। चौहान की "आलोचना" अगर प्रतिकूल परिस्थितियों से लड़ने के लिये है तो वह साम्राज्यवाद के राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दबाव का पर्दाफाश क्यों नहीं करती? वह भारत में बढ़ते हुए युद्ध-प्रचार की तरफ तटस्थ क्यों है? वह साहित्य की उस धारा का विरोध क्यों नहीं करती जो देश में साम्राज्यवादी सामन्ती हितों और उनके देशी सेवकों का समर्थन करती है? या प्रतिकूल परिस्थितियों में आचार्य शुक्ल से अब तक का आलोचना साहित्य, प्रेमचन्द के बाद से सभी भाषाओं में लिखा हुआ अब तक का प्रगतिशील साहित्य ही है?

चौहान के लिये अगर कुत्सित समाज शास्त्र का मतलब वह साहित्य है जो जन-हित को प्रतिबिम्बित करता है तो इसका यह मतलब नहीं कि कुत्सित समाजशास्त्र नाम की कोई चीज़ होती ही नहीं है। समाज और साहित्य के सम्बन्ध को सही तौर पर पेश न करना, साहित्य के लिये ग़लत सामाजिक उद्देश्य पेश करना, गलत सामाजिक पृष्ठ-भूमि में साहित्यकारों का मूल्याङ्कन करना, यह सब कुत्सित समाज-शास्त्र की विशेषता है।

मिसाल के लिये हिन्दुस्तान में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता का

सवाल है। हमारे मित्र या तो समूचे साहित्य को प्रगतिशील मानेंगे या फिर प्रगतिवाद की यह व्याख्या करेंगे—" 'प्रगतिवाद' साहित्य की वह धारा है जो पूँजीवाद के अन्तिम काल में उत्पन्न होती है, जो पूँजीवादी साहित्य और कला की सारी कामयाबियों और सजीव परम्पराओं को ग्रहण कर, एक नये जन-साहित्य का निर्माण करती है।"

अगर पच्छिम के देशों में प्रगतिशील कहलाने वाला साहित्य पूँजीवाद के अन्तिम काल में रचा गया हो तो वह व्याख्या भारत पर भी क्यों न लागू कर दी जाय?

हाँ! चौहान के इस वाक्य में प्रगतिवाद साहित्य की धारा है। यह "प्रगतिवाद" नाम की किताब के "प्रगतिवाद" नामक लेख का पहला ही वाक्य है। लेकिन "आलोचना" (नं० ४) में चौहान ने कुत्सित समाज-शास्त्रियों की भूल सुधारते हुए लिखा, "प्रगतिवाद साहित्य की धारा नहीं, साहित्य का मार्क्सवादी दृष्टिकोण है।" प्रगतिवाद जब साहित्य की धारा होता है, तब उसमें दृष्टिकोण का अभाव होता है। जब वह दृष्टिकोण होता है तब वह साहित्य की धारा से तटस्थ रहता है। इसीलिये कभी वह धारा, कभी दृष्टि-कोण, लेकिन दोनों से मिलजुलकर एक दिशा में बहती हुई धारा वह नहीं हो पाता।

एक दूसरे लेख में चौहान ने साम्यवादी यथार्थवाद के साहित्य ही को प्रगति-शील साहित्य माना है। साम्यवादी यथार्थवाद क्या है? दृष्टिकोण है या धारा है? साम्यवादी यथार्थवाद "वर्तमान-कालीन मजदूर, किसान और निम्नश्रेणी के टुटपुँजियों का साहित्य होता है, जिसमें ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक शोध द्वारा उनकी आन्तरिक एकता के दृढ़ करने की कोशिश की जाती है।"

इसमें सन्देह नहीं कि चौहान जैसे लोगों ने किसानों और मजदूरों का साहित्य चाहे न रचा हो, निम्न श्रेणी के टुटपुँजियों का साहित्य ज़रूर रचा है और इस काम में वह अकेले नहीं हैं।

और भी, साम्यवादी यथार्थवाद "साहित्य की अन्य सभी धाराओं से वस्तु, रूप, प्रकाशन और सिद्धान्त में भिन्न है। यह सब का व्यतिरेक कर स्वयं

अपने पैरों पर खड़ा होने का दावा करता है। यह एक युद्धात्मक, असहनशील, क्रान्तिकारी धारा है।"

संक्षेप में यह कि सांस्कृतिक विरासत से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। वह हर चीज़ नयी गढ़ कर पेश करने में विश्वास करता है, अपने पैरों खड़ा होता है, असहनशील है और उसका क्रान्तिकारीपन उसकी असहनशीलता में ही है। लेकिन इन सब विशेषणों का सम्बन्ध सोवियत सङ्घ के समाजवादी यथार्थवाद से भी नहीं है जिसका रूप जातीय होता है, इसलिये एक हद तक परम्परागत भी होता है, और विषयवस्तु समाजवादी होती है। समाजवादी यथार्थवाद के प्रवर्तकों का यह भी कहना था कि हर जाति की कुछ अपनी सांस्कृतिक विशेषताएँ होती हैं जो उसके जीवन की विशेष परिस्थितियों से पैदा होती हैं। वे साहित्य में प्रतिबिम्बित होती हैं। चौहान की व्याख्या न सिर्फ भारतीय प्रगतिशील साहित्य के लिये ग़लत है, बल्कि वह सोवियत साहित्य के लिये भी ग़लत है जहाँ समाजवादी यथार्थवाद की धारा ने इस असहनशीलता, इस वस्तु-रूप-सिद्धान्त में एक दम नये होने का विरोध किया है। चौहान ने अपनी व्याख्या किसी प्रोलेतकुल्तवादी से उधार लेकर उसे सोवियत और भारत के साहित्य पर एक साथ फिट कर दिया है।

नहीं, चौहान यह भी कहते हैं कि यह धारा पुरानी संस्कृति के समस्त रचनात्मक और प्रगतिशील तत्वों को ग्रहण कर उन्हें नये सिरे, नये ढाँचों में ढाल कर उनकी रक्षा करती है। मिसाल के लिये हिन्दी में छायावादी साहित्य को लीजिये। जिस लेख में चौहान ने रचनात्मक तत्त्वों की रक्षा की बात की है, उसी में वह छायावाद के बारे में कहते हैं, "रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बाद यह धारा हिन्दी में सर्वश्री जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रा-नन्दन पन्त, श्रीमती महादेवी वर्मा और अनेकों छोटे-मोटे कवियों के मुख से निसृत हो उठी। और आज इसका कोई ठिकाना नहीं। इनमें से कुछ-स्वभावतः प्रगतिशील भी हैं; लेकिन उनकी कविताएँ प्रगतिशील न होकर प्रति-क्रियावादी होती हैं। इस छायावाद की धारा ने हिन्दी के साहित्य को जितना धक्का पहुँचाया है, उतना शायद ही हिन्दू महासभा या मुस्लिम लीग ने पहुँचाया हो।"

चौहान का साम्यवादी यथार्थवाद पुरानी संस्कृति के रचनात्मक तत्त्वों की रक्षा इस तरह करता है। साहित्यकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है और छायावादियों में भी कुछ तो स्वभावतः प्रगतिशील थे ही, लेकिन उनकी भी कविताएँ प्रगतिशील न होकर प्रतिक्रियावादी होती हैं। यानी लगाया गुलाब लेकिन उगा कुकुरमुत्ता। और अगर प्रगतिशील कवियों की रचनाएँ प्रतिक्रियावादी हो सकती हैं तो प्रतिक्रियावादी कवियों की रचनाओं को चौहान प्रगतिशील कहें तो किसी को कोई ऐतराज़ क्यों हो?

जो राष्ट्रीय धारा के कवि हैं, चौहान उनसे और भी परेशान हैं। "भारत भारती" के लिये लिखा है, "भारत की प्रगति और सभ्यता के दुश्मन फैसिस्ट नेता डा० मुंजे और भाई परमानन्द के लिये पुस्तक हिटलर की तरह मुसलमानों को देश से निकाल बाहर करने में शायद बाइबिल बन पाती; लेकिन अब तो उसकी भी उम्मीद न रही।"

चौहान ने यह सब सन् '३७ में (विशाल भारत, मार्च '३७; "भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता") लिखा था जब "प्रगतिवादी आलोचना ने अपने प्रारम्भिक काल में हमारे साहित्यकारों को नई दृष्टि दी और उन्हें अपने सामाजिक कर्तव्यों के प्रति जागरूक किया था" (आलोचना, नं० १)। उस प्रारम्भिक काल में चौहान उस साहित्य की माँग कर रहे थे जो "एक साम्यवादी प्रकृति, साम्यवादी वातावरण, साम्यवादी दृष्टिकोण साम्यवादी पारस्परिक सम्बन्ध, साम्यवादी समाज और साम्यवादी जीवन क्या है, का भी प्रचार करता है।"

चौहान ने इतनी बार साम्यवादी शब्द की रट तो छोड़ दी है लेकिन समाजवादी क्रान्ति का नारा, समाजवादी यथार्थवाद का नारा बहुत दिन तक उनके साथ रहा है।

"संस्कृति, साहित्य और विद्यार्थी" नाम के निबन्ध में चौहान ने विद्यार्थियों को यह दावत दी थी कि "हम पूँजीवाद का अन्त करने और साम्यवाद कायम करने के लिये अभी से संगठित प्रयत्न करें।" ("साहित्य की परख" पृष्ठ ५५; यह निबन्ध सोवियत जर्मन युद्ध से पहले का है)।

"साहित्य की परख" में जहाँ उन्होंने विश्व कुत्सित समाज-शास्त्र पर हल्ला

बोला है, चौहान ने अलङ्कार शास्त्र का सहारा लेते हुए कहा है, "अलङ्कारिक भाषा में हम कह सकते हैं कि आर्थिक शोषण और साम्राज्यवाद को गिराकर जो जनवादी समाज निर्मित होगा उसके समाजवादी आर्थिक सम्बन्ध उस पीठिका का कार्य करेंगे जिस पर नये मानव की मूर्ति का संस्थापन किया जायगा।"

चौहान के इस प्रचार का असर यह हुआ है कि हिन्दी के कुछ लेखक यह समझने लगे हैं कि प्रगतिवाद के माने मार्क्सवाद, मार्क्सवाद के माने समूचा भारतीय साहित्य शून्य बराबर और नया साहित्य तब रचा जायगा जब समाजवादी आर्थिक सम्बन्धों की पीठिका पर नये मानव की मूर्ति स्थापित की जायगी। इस तरह की धारणाओं का मार्क्सवाद से कोई सम्बन्ध नहीं है, हाँ एक आदमी और उसके नाम से चलने वाली विचारधारा से उसका सम्बन्ध अवश्य है। उस आदमी का नाम था त्रात्स्की, उसकी विचारधारा का नाम है त्रात्स्कीवाद।

त्रात्स्की मजदूर वर्ग की सांस्कृतिक विरासत का घोर शत्रु था। उसके लिये मज़दूर वर्ग का न तो पिछला कोई साहित्य था, न समाजवाद के लिये संघर्ष करते हुए वह कोई साहित्य रच सकता था। विश्व समाजवादी क्रान्ति का ढोल पीटने वाला त्रात्स्की समाजवादी निर्माण और सोवियत साहित्य का कट्टर शत्रु था।

यह स्वाभाविक है कि जो लोग विश्व-क्रान्ति की लम्बी-चौड़ी बातों से जनता को भरमाते हैं, वे जनता के उस तात्कालिक कार्यक्रम का बराबर विरोध करते हैं जो उसकी प्रगति के लिये आवश्यक है। चौहान समाजवादी क्रान्ति और साम्यवादी यथार्थवाद का तो समर्थन करते हैं लेकिन स्वाधीनता, शान्ति और जनतन्त्र के उद्देश्य को प्रगतिशील साहित्य के लिये अवांछित समझते हैं। इन उद्देश्यों को सामने रखना अवसरवाद, संकीर्णतावाद, कुत्सित समाजशास्त्र और क्या-क्या नहीं है!

"आलोचना" (नं० ४) में वह कहते हैं, "'प्रगतिशील साहित्य स्वाधीनता शान्ति और जनतन्त्र का साहित्य है।'............'प्रगतिशील साहित्य देश से साम्राज्यवाद, सामन्तवाद की संस्कृति को निकालने के लिये संघर्ष करता है।'

आदि स्थापनाओं से स्पष्ट है कि लेखक ने प्रगतिशील साहित्य का अर्थ अपनी नई परिभाषा में संकुचित करके उसे हमारे देशकाल की विशिष्ट सामयिक परिस्थितियों से ही नहीं बल्कि एक विशेष राजनीतिक, पार्टी और प्रोग्राम के साथ भी बाँध दिया है।"

विश्वक्रान्ति की तरह चिरंतन प्रगतिशीलता की रक्षा करने की उत्सुकता में चौहान देशकाल की परिस्थितियों से, किसी निश्चित प्रोग्राम से बँधना पसन्द नहीं करते। समाजवादी क्रान्ति का कार्यक्रम उन्हें पसन्द है क्योंकि आज उसके लागू होने का सवाल नहीं है, यानी वह प्रोग्रामहीनता के बराबर है। और शान्ति और स्वाधीनता के लिये संघर्ष करने का प्रोग्राम एक पार्टी विशेष का हो जाता है, इसलिये वह साहित्य के दायरे को संकीर्ण कर देता है जब कि समाजवादी क्रान्ति का प्रोग्राम किसी भी पार्टी का प्रोग्राम न होने की वजह से साहित्य के दायरे को विश्व के समान विराट् कर देता है। चौहान जैसे सांस्कृतिक विरासत से कटे हुए हैं, वैसे ही देश की असली राजनीति से भी।

सन् ५१ की "नई चेतना" (नं० ४) में चौहान स्वाधीनता के सवाल पर तो तटस्थ रहने की बात करते हैं,—"इसलिये अगर कोई कहे कि हम आज़ाद हो गए या कहे कि नहीं, अभी हम गुलाम हैं तो हमें इन बहसों में पड़ने से गरज़ नहीं है"—लेकिन समाज और साहित्य के लक्ष्य के बारे में वह कहते हैं—"मानव पर मानव का शोषण समाप्त करके न्याय समानता, प्रेम और मुक्त सहयोग पर आधारित एक सच्चे वर्ग मुक्त, शोषण मुक्त, अज्ञान मुक्त मानव समाज का निर्माण ही इस अविराम संघर्ष की मूल प्रेरणा और इसका लक्ष्य और प्रयोजन है, जो इतिहास को गति प्रदान करता है।"

मतलब यह कि हर तरह की मुक्ति की बात हम सुनने के लिये तैयार हैं जब तक साम्राज्यवाद से मुक्ति की बात न कही जाय।

साहित्य में अगर जनतंत्र के समर्थन का उद्देश्य रखा जाय तो वह संकीर्णतावाद है, अगर समाजवादी यथार्थवाद का उद्देश्य रखा जाय तो ठीक है। "नई चेतना" के उसी लेख में चौहान ने कुत्सित समाजशास्त्रियों पर यह आरोप लगाया है कि "समाजवादी विषयवस्तु और राष्ट्रीय रूपविधान इस

मार्क्सवादी सिद्धान्त को उलट कर ये साथी ऐसी रचनाएँ करते रहे"। अगर "ये साथी" अपने साहित्य में समाजवादी विषयवस्तु नहीं देते रहे तो इस पर इतना कोप क्यों? समाजवादी विषयवस्तु की माँग करना कुत्सित समाजशास्त्र है या उसके बदले जनवादी विषयवस्तु की माँग करना?

इसलिये कुत्सित समाजशास्त्र का खतरा गोर्की, शेली और वोल्तेयर के लिये तब नहीं पैदा होता जब वे फ्रान्स या रूस की राज्यक्रान्ति के समर्थन में या तात्कालिक प्रश्नों को लेकर साहित्य रचते हैं। कुत्सित समाजशास्त्र का खतरा तब पैदा होता है जब हम भारतीय समाज के विकास की मंजिलें भूल कर ग़लत सामाजिक उद्देश्य अपने सामने रखते हैं। आज की परिस्थिति में साहित्य के सामने शान्ति, स्वाधीनता और जनतंत्र के लिये संघर्ष करने का उद्देश्य रखना उचित है।

(३)

"क्या साहित्य प्रॉपैगैण्डा है?" नाम के निबन्ध में चौहान ने रूस के कुत्सित समाजशास्त्र की मिसाल देते हुए कहा है, "रूस की क्रान्ति के अवसर पर यह नारा लगाया गया कि 'साहित्य वर्ग-युद्ध का एक हथियार है।' यह एक ग़लत नारा था। किन्हीं खास परिस्थितियों में कोई नारा किस प्रकार उठाना चाहिए यह साधारण कार्य नहीं है क्योंकि उन परिस्थितियों की तात्कालिक आवश्यकताओं के अनुकूल कार्यसंगठन करने के उद्देश्य से जन-समूह को प्रेरित करने के लिये ही केवल नारा नहीं लगाया जाता। ऐसा नारा तात्कालिक आवश्यकताओं से इतना आबद्ध रहेगा कि परिस्थितियों के बदलने पर वह एक दम बेकार हो जायगा और कदाचित् नयी परिस्थितियों के विपरीत पड़कर यह उनके विकास में बाधक हो उठे।"

यहाँ फिर वही तात्कालिक आवश्यकताओं से बचने की परेशानी है। नारा ऐसा होना चाहिए जो सभी युगों की परिस्थितियों पर लागू हो।

रूसी क्रान्ति के अवसर पर जो ग़लत नारा दिया गया, उसका नतीजा क्या हुआ? नतीजा यह हुआ कि "इस नारे को मान्य मानकर प्रत्येक लेखक के लिए यह जरूरी हो गया कि वह केवल पूँजीपति और मजदूर, श्वेतसेना या

लाल सेना, ज़ारशाही और बॉल्शेविक पार्टी, कुलक और किसान के संघर्षों का, शोषित वर्गों की विजय कामना प्रकट करते हुए, ज्यों-का-त्यों तथा सीधा राजनैतिक वर्णन ही करे।"

यह बात लोगों को मालूम है कि सोवियत क्रान्ति के बाद कुछ मार्क्सवाद-विरोधी लेखकों ने—सभी सोवियत लेखकों ने नहीं—सांस्कृतिक विरासत को ठुकराया और ऐसा साहित्य रचने लगे जो कहने को सर्वहारा साहित्य था लेकिन वास्तव में जो मजदूर वर्ग के संघर्ष से तटस्थ रहता था, उसका विरोध करता था। हिन्दी में चौहान और धर्मवीर भारती जैसे लेखकों ने रूसी साहित्य का हवाला देकर अपने ग़लत रुझान को सही कह कर पेश करने की कोशिश की है।

रूसी क्रान्ति के लिये बोल्शेविक पार्टी के नेताओं ने कौन सा नारा दिया था? लेनिन ने अपने प्रसिद्ध लेख "पार्टी संगठन और पार्टी साहित्य" में पार्टी साहित्य की माँग करते हुए लिखा था, "साहित्य के लिये यह जरूरी है कि वह समूचे सर्वहारा उद्देश्य का अङ्ग बन जाय।"

चौहान को चाहिये कि खुल कर लेनिन के लेख "पार्टी संगठन और पार्टी साहित्य" का हवाला देते हुए उस पर अपनी राय दें। रूसी क्रान्ति के अवसर पर यह नारा दिया गया, वह नारा दिया गया, इस तरह छिपकर तीर चलाने से क्या फ़ायदा।

१६०५ की रूसी क्रान्ति के बाद जब बहुत से "निम्न श्रेणी के टुटपुँजिया" साहित्य में कार्यक्रम, तरफ़दारी, वर्ग-संघर्ष का विरोध करने लगे तब स्तालिन ने इनका हुलिया बयान करते हुए कहा था, "वर्ग-विरोधों को नज़रंदाज़ करना, वर्ग-संघर्ष को अस्वीकार करना, स्पष्ट रूपरेखा का अभाव, कार्यक्रम का विरोध हितों को उलझाने और अराजकता के लिये कोशिश—यह है ग़ैरजानिबदारी।" (देखिये, सोवियत साहित्य, १६५०, नं० १२)।

चौहान मिलाकर देखें, स्तालिन ने ग़ैरजानिबदारों का जो हुलिया बयान किया है, उनसे कहीं मिलता-जुलता है या नहीं। इस ग़ैरजानिबदारी का खंडन करते हुए, साहित्य में कार्यक्रम की जरूरत बताते हुए स्तालिन ने लिखा था, "ग़ैरजानिबदारी का स्वाँग मुर्दाबाद। राजनीतिक लाइन की स्पष्टता और निश्चितता ज़िंदाबाद। यह है हमारा नारा।"

चौहान को चाहिये कि स्तालिन के उद्धरण देकर कहें कि वह इस जानिबदारी के उसूल का विरोध करते हैं, कि उन्हें साहित्य में किसी परिस्थिति-जन्य कार्यक्रम का होना उसी तरह अमान्य है जिस तरह वह रूस के प्रोलेत-कुल्तवादियों और दूसरे लेखकों को था।

चौहान के लिये वह सौन्दर्य-मूलक प्रवृत्ति कौन सी वस्तु है जिसका ज़िक्र उन्होंने "साहित्य की परख" में किया था ? वह "कला कला के लिये" पूँजी-वादी सिद्धान्त के अलावा और कुछ नहीं है। क्या चौहान यह मानते हैं कि समाज का हर वर्ग साहित्य के प्रति अपना एक कलात्मक दृष्टिकोण भी रखता है ? क्या वह इस भौतिकवादी उसूल को मानते हैं कि "हर वर्ग समाज के अपने राजनीतिक और कलात्मक मान दण्ड होते हैं जैसे कि किसी भी वर्ग समाज के विभिन्न वर्गों के अलग-अलग मानदंड होते हैं।" (माओ ज़े दुङ्)।

तात्कालिक प्रश्नों से साहित्य को बचा कर, परिस्थितिजन्य उसूलों का विरोध करके चौहान ने सभी समाजों और सभी वर्गों के लिये जो शाश्वत प्रगति-शीलता की सौन्दर्यमूलक प्रवृत्ति खोज निकालने की कोशिश की है, वह न तो आज की परिस्थितियों से परे है, न वर्गों से परे है। रूसी क्रान्ति के बाद लिखे हुए साहित्य का ग़लत हवाला देकर चौहान ने अपने पूँजीवादी कला-सिद्धान्त को उसी तरह बचाना चाहा है जैसे रूस में प्रोलेतकुल्तवादी उसे बचाने की कोशिश कर चुके थे।

जो लेखक साहित्य को जनता के क्रान्तिकारी कार्यक्रम के बाहर रखते हैं, उनके लिये माओ ज़े दुङ् ने ठीक लिखा है, "इस उसूल से हटने का लाज़मी नतीजा होता है, दुविधा और कई नावों पर चढ़ना और अन्त में ऐसे मत जैसे कि त्रात्स्की ने प्रचारित किये थे। मार्क्सवादी राजनीति लेकिन पूँजीवादी कला।"

क्या चौहान मार्क्सवादी और पूँजीवादी राजनीति के साथ मार्क्सवादी और पूँजीवादी कला में भी भेद मानते हैं ? उनकी आलोचना में परिस्थितियों और वर्गों से परे शाश्वत सौन्दर्य की खोज से तो यह साबित नहीं होता। यह स्वाभाविक है कि पूँजीवादी कला-सिद्धान्त के उपासक चौहान को जहाँ

छायावाद महासभाई प्रचार और प्रेमचन्द के बाद तमाम भारतीय भाषाओं में ह्रास दिखाई देता है, वहाँ उत्कृष्ट कला की कृतियाँ उन्हें अज्ञेय, जैनेन्द्र और अश्क जैसे लेखकों में मिलती हैं। पूँजीवादी कला-सिद्धान्त की उपासना और उस सिद्धान्त के असर से रचे हुए साहित्य की प्रशंसा—यह है चौहान का प्रगतिवाद।

"प्रगतिवादः एक समीक्षा" में धर्मवीर भारती ने प्रगतिशील आलोचकों पर वही आक्षेप किये हैं जो चौहान ने इस किताब के पहले और बाद को किये थे। भारती का कहना है, "स्वयं प्रगतिवादियों ने भी सिवा तीखी, अवसरवादी आलोचनाओं औरद लबन्दी तथा गालीगलौज के, अभी तक गंभीरता और शान्ति से समस्याओं का विश्लेषण उदारता, समझदारी और दूरदर्शिता का परिचय नहीं दिया है।"

लेकिन चौहान की तरह भारती को झुँझलाहट सिर्फ हिन्दी के प्रगतिवादियों पर नहीं है, उनकी राय में विश्वसाहित्य में मार्क्सवाद एक प्रतिक्रियावादी शक्ति साबित हो चुका है। मार्क्सवाद ने ऐसी संकीर्णता दिखाई कि "जिस प्रगतिवादी आन्दोलन में एक दिन यह गोर्की, रोलाँ तक सम्मिलित थे, जिसको अर्न्स्ट टालर और रैल्फ फाक्स जैसे शहीदों ने अपने खून से सींचा था [भारती को चौहान की तरह मार्क्सवादियों से कितनी हमदर्दी है! रा० वि०] आज स्टीफेन स्पेंडर और आडेन की तो बात दूर मैलराक्स (Malraux) जैसे कट्टर कम्यूनिस्ट भी अपने को उसकी संकीर्णता से संतुलित नहीं कर पाते।"

भारती ने यह नहीं बताया कि प्रगतिवाद जिनके लिये इतना संकीर्ण हो गया, वे स्पेंडर और आडेन आज कल करते क्या हैं? पिछले दिनों बम्बई में जब अमरीकी साम्राज्यवादियों के इशारे पर संस्कृति-सम्मेलन हुआ, तो उसके अलम्बरदारों में ये सज्जन भी थे, (भारती के धर्मगुरु सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन भी वहाँ विद्यमान थे, बल्कि उसके एक कर्णधार थे!)।

भारती के अनुसार स्पेंडर और ऑडेन के प्रगतिवाद छोड़ने के पहले ही रूस में वह संकीर्ण हो गया था। मायकोव्स्की में "नारेबाजी काफी मात्रा में थी" (पृ० २७)। इसलिये भारती को हिन्दी कविता में नारेबाजी काफी से

भी ज्यादा मात्रा में मिले तो क्या आश्चर्य ! मायकोव्स्की सोवियत समाज का सब से लोकप्रिय कवि था। यह बात भारती को मालूम है। उसकी लोकप्रियता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं—"सहज और सरल भाषा थी, चुटीली अभिव्यंजना थी और अनुभूति का एक छिछलापन था जिसने उसे इतना जन-प्रिय बना दिया था।"

भारती की समझ से यह बात परे है कि जन-प्रियता और छिछलापन पर्यायवाची शब्द नहीं हैं। कला के प्रति पूँजीवादी दृष्टिकोण गहराई वहीं देखता है जहाँ फ़ीरोज़ी ओठों पर ज़िन्दगी बर्बाद होती हो या मार्क्सवाद कोसा गया हो।

भारती के अनुसार सोवियत संघ में प्रोलेतकुल्तवादियों ने जो परम्परा को ठुकराया और कुत्सित समाजशास्त्र का प्रचार किया, उसका कारण स्तालिन की शंकित मनोवृत्ति थी कि समाजवादी शासन नष्ट न कर दिया जाय और इससे संकीर्ण मार्क्सवादियों ने लाभ उठाया। लेकिन बाद को स्तालिन ने स्थिति सँभाल ली और "अब तो ऐसा लगता है जैसे ज़ार के रूस और स्तालिन के रूप का ऐतिहासिक और परम्परात्मक भेद समाप्त हो गया।" भारती का कला-सिद्धान्त ही पूँजीवादी नहीं है, उसकी राजनीति भी पूँजीवादी है। सोवियत जीवन का वस्तुगत चित्र दिखाने के बहाने वह घटिया साम्राज्यवादी प्रचारकों की तरह सोवियत देश की सर्वहारा-अन्तरराष्ट्रीयता को ज़ारशाही रूस के साम्राज्यवाद से एक कर देते हैं। और इस नये रूस में (या नयापन खोकर फिर पुरानी राह पर चलने वाले रूस में) मानो मार्क्सवाद को ठुकरा कर साहित्य रचा जाने लगा—"और सभी तरह के वर्गवाद से ऊपर उठकर अब वे व्यापक सत्य के उस स्तर पर पहुँच गये हैं जहाँ युग-युग का साहित्य लिखा जा सकता है।"

यानी लेनिन-स्तालिन-माओ का वर्ग-साहित्य वाला सिद्धान्त वहाँ लागू नहीं होता, वहाँ चौहान का सामयिकता से तटस्थ युग युग में अपरिवर्तनशील सौन्दर्यमूलक प्रवृत्ति वाला उसूल लागू होता है। इसलिये अब रूसी साहित्य "देश और काल की सीमा में बँध कर ही नहीं रह गया", वह "घूम फिर

कर फिर इसी सिद्धान्त पर आ गया कि कला युग-युगों की एक स्थायी चीज़ है।" (पृ० ६४)

भारती को रूसी क्रान्ति साहित्य के लिये वैसे ही ख़तरनाक दिखाई देती है जैसे चौहान को। क्योंकि "उस समय क्रान्ति के नक्कारों में बुद्धि और संतुलन की आवाज़ दब गई थी, भावना ने अपने मिसरी जैसे सूखे और प्यासे होठों से ज़िन्दगी को और गहराई से सोचने की सलाह दी थी, लेकिन फौजी बूटों से वह आवाज़ कुचल दी गई।" (पृ० ८८)

भारती के लिए क्रान्तिकारी साहित्य का खलनायक मायकोव्स्की है। "वह प्राचीन साहित्य, मधुर साहित्य, प्रेमकाव्य सभी के विरुद्ध था।" (पृ० ८६)। नतीजा यह कि रूस में "प्रेम का गला घोंट दिया गया था।" ठीक वैसे ही जैसे चौहान के लिये अली सर्दार वगैरह ने प्रेम की कोमल भावनाओं को कुचल दिया है। (देखिये हंस में "मौत और दोशीजा" नाम की गोर्की की रचना पर चौहान की टिप्पणी)।

चौहान के लिये जिस तरह हिन्दी के प्रगतिशील लेखक ही कुत्सित समाजशास्त्री नहीं हैं, बल्कि शुक्लजी से वह परम्परा चली आ रही है, उसी तरह भारती के मायकोव्स्की ने "मार्क्सवाद की एक यान्त्रिक व्याख्या कर ली थी, उस यान्त्रिकता में पूर्णतया ढल जाने का निश्चय कर लिया था।" (पृ० ६६)।

भारती जैसे लोग मार्क्सवाद, सोवियत साहित्य, प्रगतिवाद वगैरह से हमदर्दी का अभिनय भर करते हैं। उनकी हमदर्दी दरअसल और कहीं है। अभिनय उनके विरोध को छिपाने भर के लिये है। वह बड़े ईमानदारी के स्वर में कहते हैं—"धीरे-धीरे स्टालिन ने अपनी गलती महसूस की"। मानों प्रोलेतकुल्तवादियों के मार्क्सवाद-विरोध के लिये स्तालिन ज़िम्मेदार रहे हों!

और अन्त में भारती ने हिन्दुस्तान की गरीब जनता की पार्टी के बारे में उसी झूठ का प्रचार किया है जिसका प्रचार तमाम साम्राज्यवादी दुनिया की हर कम्युनिस्ट पार्टी के खिलाफ़ किया करते हैं—"भारत की कम्युनिस्ट पार्टी भारत के लिए नहीं है और चाहे जिसके लिए हो"।

संकीर्णतावाद का विरोध करने के नाम पर मायकोव्स्की, सोवियत समाज,

हिन्दुस्तान की कम्युनिस्ट पार्टी सभी घसीट लिये गये। लेकिन पिछले दिनों साहित्य में संयुक्त मोर्चा बनाने के सिलसिले में भारती संकीर्णतावाद-विरोधी प्रगतिशील लेखक की हैसियत से सामने आगये और संकीर्णतावाद का पहले से ही विरोध करते रहने के कारण और भी यशस्वी रूप में आये। नतीजा यह कि उनके साथ वे संयुक्त मोर्चे के पत्र भी अस्त हो गये। कोई आश्चर्य नहीं कि भारती की कला का मूल्य पहचानने वाला हिन्दी में सिर्फ एक लेखक मिलता है—शिवदानसिंह चौहान। लेकिन अफ़सोस, प्रगतिशील लेखकों में उनके सिद्धान्तों का मान नहीं है! "सिवा शिवदान चौहान के किसी ने भी कलात्मकता का मूल्य नहीं पहचाना है और चौहान जी के विचारों को भी समुचित महत्व उस क्षेत्र में नहीं मिल रहा है।" इसलिये उनके विचारों को समुचित महत्व देने के लिये भारती ने "प्रगतिवाद" में मार्क्सवाद को पानी पी पी कर कोसा है।

भारती और चौहान एक ही रथ के दो पहिये हैं। ये पहिये अपनी घरघराहट को सौन्दर्यमूलक प्रवृति, मानववाद वगैरह नाम देते हैं लेकिन वह घरघराहट है पहचानी हुई—मार्क्सवाद के खिलाफ़ हर देश के पूँजीवादी लेखकों की चीख-पुकार। उस रथ के ऊपर जो झंडा फहराता है वह वही चिर परिचित कला कला के लिये वाला झंडा है।

———

साहित्य की परंपरा

(१)

प्रगतिशील साहित्य जनता की तरफदारी करने वाला साहित्य है, इसलिये वह उसकी जातीय विरासत, उसकी साहित्यिक परंपराओं की रक्षा करने के लिये भी लड़ता है। साम्राज्यवाद न सिर्फ जनता की स्वाधीनता का अपहरण करता है, उसके जनवादी अधिकारों को कुचलता है बल्कि उसकी जातीय संस्कृति, उसके राष्ट्रीय अभिमान, उसके पूर्व पुरुषों के अर्जित ज्ञान को भी झुठलाता और दबाता है। इसलिये जनता की जातीय संस्कृति और रक्षा के विकास के लिये संघर्ष उसकी स्वाधीनता और जनवादी अधिकारों के लिये संघर्ष का अभिन्न अंग है।

हिन्दीभाषी जनता की एक प्राचीन और गौरवशाली परंपरा है। इस परंपरा पर अभिमान करने में एक तरफ तो भारतीय रूढ़िवाद बाधक होता है जो हर सांस्कृतिक निधि का उपयोग महन्तों और जागीरदारों के हित में करना चाहता है। उस सांस्कृतिक निधि के निर्माणमें भारत की जनता का कितना हाथ है, इस बात को वह छिपाता है। दूसरी तरफ पच्छिमी पूँजीवाद का नस्ल-सिद्धान्त है जिसके अनुसार वह निधि हमारे पूर्वजों की रचना नहीं, किसी विश्वव्यापी नस्ल की रचना है जिस पर औरों का अधिकार भले हो, हमारा अधिकार अवश्य नहीं है।

हिन्दी में कुछ विचारकों ने जातीय संस्कृति के निर्माण के पेचीदा क्रम को बहुत आसान बनाकर भारतीय संस्कृति को आर्य और द्रविड़ में बाँट दिया है। उसमें कुछ विद्वान् अपने धार्मिक उत्साह के कारण यह देख ही नही पाते कि जातीय संस्कृति का निर्माण करने वाले भले ही किसी धर्म को मानने वाले रहे हों लेकिन इससे जातीय संस्कृति धर्म का पर्याय नहीं हो जाती। जैसे ब्रिटिश संस्कृति के निर्माता ज्यादातर ईसाई रहे हैं लेकिन इससे ब्रिटिश

संस्कृति ईसाई धर्म का पर्याय नहीं हो जाती।

"वोल्गा से गंगा" की "प्रभा" कहानी में राहुल जी रघुवंश और कुमार-संभव को चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की प्रशस्तियाँ कह कर टाल देते हैं। "सुपर्ण यौधेय" में कालिदास फिर गुप्त सम्राटों का चाटुकार कवि दिखलाया गया है। उसके मुकाबले में बौद्ध कवि "अश्वघोष महापुरुष और महाकवि दोनों थे"।

कालिदास के साथ वाल्मीकि को भी सम्राटों का चाटुकार कल्पित करते हुए राहुलजी "सुपर्ण यौधेय" में लिखते हैं, "कोई ताज्जुब नहीं, यदि वाल्मीकि शुङ्गवंश के आश्रित कवि रहे हों, जैसे कालिदास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के, और शुंगवंश की राजधानी की महिमा को बढ़ाने ही के लिए उन्होंने जातकों के दशरथ की राजधानी वाराणसी से बदलकर साकेत या अयोध्या कर दी और राम के रूप में शुंगसम्राट पुष्यमित्र या अग्निमित्र की प्रशंसा की—वैसे ही, जैसे कालिदास ने 'रघुवंश' के रघु और 'कुमार संभव' के कुमार के नाम से पितापुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और कुमारगुप्त की।"

यह भी एक समाजशास्त्र है। राम शुंग सम्राट के प्रतीक हैं और कुमारसम्भव के कुमार सम्राट् कुमारगुप्त के। राहुल जी को चाहिये कि वह यह भी बता दें कि दशरथ, कौसल्या, सीता, लक्ष्मण, भरत आदि सम्राट् के खानदान में किस किस व्यक्ति के प्रतीक हैं और शुंग सम्राट् जैसे सामन्ती शोषक के गुण राम में चित्रित हुए हैं तो रावण में उसके विरोधी क्या किसी गणराज्य के जननायक का चित्रण किया गया है। इसी तरह कालिदास के यक्ष, तन्वी श्यामा शिखरिदशना, शकुन्तला, गौतमी, कुमारसंभव की नीलालकमध्य शोभी उमा, विकीर्णमूर्धजा विलाप करती हुई रति किस किस के प्रतीक हैं, यह बता देते तो सांस्कृतिक इतिहास लिखने में आसानी रहती।

राहुल जी की कल्पना में यह बात नहीं आती कि जिस राम को जनता ने अपना 'हीरो' बना लिया, उसके गुण जनता के गुण भी हो सकते हैं। रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्यों में जिन वीर नायकों के चरित्र वर्णित हैं, उनकी लोकप्रियता, उनके सामन्ती ऐश्वर्य के कारण नहीं है। ये महाकाव्य आज भी हमारी जनता को प्रिय हैं, इसलिए कि उनमें हमारे पूर्वजों के अनेक

ऐसे गुणों का वर्णन है जिन्हें हमरी जनता प्यार करती है।

और कालिदास का सौन्दर्य उज्जयिनी और क्षिप्रा के सौन्दर्य से भी संबन्धित है, वह सौन्दर्य सामन्तकाल में भारतीय जनजीवन से ही पैदा हुआ, यह वह नहीं सोच पाते। लेकिन उसके बिना पार्वती का सौन्दर्य, शकुन्तला नाटक के चौथे अंक की करुणा, यक्ष की विरह वेदना भी कल्पनातीत है।

"सिंह सेनापति" का नायक कहता है—"क्योंकि अष्टक, वामक, वामदेव, यमदग्नि, भृगु, वशिष्ठ, अंगिरा, विश्वामित्र, भरद्वाज आदि ने जो तीनों वेद बनाये, वही ब्राह्मण क्षत्रिय के भेद को स्थापित करने में प्रधान कारण हुए।"

इस समस्या को थोड़ी देर के लिये हम छोड़ देते हैं कि वेदों ने वर्णव्यवस्था कायम की या नहीं। मान लीजिये कायम की तो ऐतिहासिक विकासक्रम में वह प्रगतिशील थी या नहीं? निःसन्देह जैसे आदिम साम्यवाद के मुकाबले में दासप्रथा प्रगतिशील थी, वैसे ही दासप्रथा के मुकाबले में वर्ण-व्यवस्था भी प्रगतिशील थी। लेकिन राहुल जी इसके लिये वेद के रचयिताओं को क्षमा नहीं कर सकते।

राहुल पथानुगामी श्री रांगेय राघव ने कहीं यह वाक्य पढ़ा कि "ऋग्वेद के कवि ऋषियों से लेकर 'प्रसाद' और 'निराला' तक हमारी जाति की गौरवमयी काव्य-परंपरा रही है।" इस पर क्रुद्ध होकर उन्होंने लिखा—"वे नहीं जानते कि गंगा-यमुना के प्रदेश में ऋग्वेद के कवि बहुत बाद में आये थे और उस गौरव में आर्य दंभ ही था जिसने वर्ण व्यवस्था का मूल स्वर उठाया था।" ("आलोचना" नं० ५)।

इस तरह पच्छिमी संस्कृति के आधुनिक नस्ल-सिद्धान्त को वैदिक काल में लागू करके रांगेय राघव ने वेद रचयिताओं को उसी दोष का भागी बनाया है, जिस दोष का भागी हिटलर था। और उनके द्वारा वर्ण-व्यवस्था का कल्पित या वास्तविक समर्थन उस जातीय काव्य परंपरा पर आक्रमण करने के लिये काफी है।

रांगेय राघव के लिए सामाजिक विकास-क्रम क्लान, ट्राइब, नैशनैलिटी और नेशन के रूप में संगठित जनों का नहीं होता। उनके लिये जन संगठित

होते हैं, नस्ल में। इसलिये भारतीय इतिहास मूलतः दो नस्लों का संघर्ष हो जाता है। ये नस्लें आर्य और द्रविड़ों की हैं। इसलिये आर्य दम्भ का खण्डन करने के लिये रांगेय राघव द्रविड़ दंभ का सहारा लेते हैं और इन दो दंभों की टक्कर में तमिल और हिन्दी संस्कृति की जातीय विरासत खत्म हो जाती है।

"राह के दीपक" नाम के कविता-संग्रह में वह लिखते हैं—

"धूलि के कन
हिमालय बनजा कि तुझको
कुचलने वाले झुकादें शीश।
आज मेरी धमनियों में
बज उठा है खौलता फिर
उस द्रविड़ का तप्त लोहू—
भींग शोणित से लड़ा जो
वर्णदम्भी, जातिदर्पी
गौर आर्यों से गरजकर
क्योंकि बर्बर कर रहे थे
आक्रमण,
घर द्वार उसका लूट।"

इस तरह तमिल और हिन्दी भाषियों की जातीय विरासत को दो नस्लों के हवाले करके राघवजी रह जाते हैं—शुद्ध कॉस्मोपॉलिटन, न घर के न घाट के। लेकिन इसमें दोष मार्क्सवाद का नहीं है। नस्ल के आधार पर इतिहास का विश्लेषण करना पच्छिम के पूँजीवादी तथा-कथित वैज्ञानिकों की सूझ-बूझ है। यह प्रणाली न तो हिन्दुस्तान में प्रचलित रही है, न मार्क्सवाद को उससे कोई वास्ता है।

गोस्वामी तुलसीदास पर रांगेय राघव की विशेष कृपा है। "आलोचना" के उसी लेख में वह गोस्वामीजी की तारीफ में कहते हैं—"तुलसी ने केवल ब्राह्मणधर्म को जन भाषा में लिखा था और इसलिये वे खूब संस्कृत भी भर लाये थे।"

हिन्दीभाषी जनता का सबसे लोकप्रिय ग्रन्थ ब्राह्मणधर्म की प्रतिष्ठा करने

के लिये लिखा गया है। जिन चौपाइयों, दोहों और छन्दों ने करोड़ों किसान हृदयों को रस-विह्वल कर दिया है, वे संस्कृत से भरे हुए हैं। गोस्वामीजी ने ठीक ही कहा था—"काक कहहिं कल कण्ठ कठोरा।"

रांगेय राघव को मालूम है कि पुरोहितवर्ग ने तुलसी का विरोध किया था। इसलिये इस अड़चन की सफाई देते हुए लिखते हैं, "तत्कालीन उच्चवर्ग ने प्रारम्भ में जो तुलसी का विरोध किया, वह ग़लती उन्होंने जल्दी महसूस की। राम-नाम के प्रताप से जूठन बीनकर खाने वाला तुलसीदास, अपने जीवन-काल में ही उन्हीं उच्च वर्गों के कंधों पर डोलने लगा, हाथी पर चढ़ने लगा।"

जी, तुलसीदास हाथी पर चढ़ने लगा। चार सौ साल बाद द्रविड़ रक्त खौलने पर रांगेय राघव तुलसी की दास-वृत्ति का पर्दाफाश करने पर कटिबद्ध हो गये हैं। उच्चवर्गों ने ग़लती जल्द महसूस की लेकिन हिन्दुस्तान की जनता ने अभी तक तुलसी की सामन्त-भक्ति को नहीं पहचाना। और जिस हाथी पर सामन्तों ने तुलसीदास को बिठाया था, वह तो बेचारा स्वर्गवासी हो गया लेकिन उसकी दुम रांगेय राघव के हाथ में रह गई जिससे उन्होंने सिद्ध कर दिया कि तुलसी हाथी पर चढ़े थे।

स्वाभाविक है कि चौहान की तरह रांगेय राघव को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना पसन्द न हो। लेकिन चौहान के लिये जहाँ शुक्लजी का दृष्टिकोण एकाङ्गी समाज-शास्त्री था, वहाँ रांगेय राघव के लिये, "आचार्य शुक्ल ने इतिहास को शुद्ध ब्राह्मण दृष्टिकोण से देखा है।" (संगम और संघर्ष, पृ० ६२)।

शुद्ध ब्राह्मण दृष्टिकोण का एक प्रमाण देखिये। जायसी ग्रन्थावली की भूमिका में शुक्लजी लिखते हैं, "सौ वर्ष पहले कबीरदास हिन्दू और मुसलमान दोनों के कट्टरपन को फटकार चुके थे। पण्डितों और मुल्लाओं की तो नहीं कह सकते, पर साधारण जनता 'राम और रहीम' की एकता मान चुकी थी।" शुद्ध ब्राह्मणवाद!

तुलसीदास सामन्तों के साधारण सहायक नहीं थे। उन्होंने उभरते हुए सामन्त-विरोध को ही खत्म कर दिया। "समाज में जो निम्नवर्गों का आन्दोलन ब्राह्मण सर्वाधिकार के विरुद्ध चल रहा था, उसे गहरी चोट दी, बल्कि वह

आन्दोलन ही नष्ट कर दिया और समस्त वेदानुयायियों को एक करके इस्लामी संस्कृति के विरुद्ध खड़ा कर दिया।" (उप० पृ० ६४)

जैसे प्राचीनकाल में एक तरफ आर्य और दूसरी तरफ द्रविड़ खड्ग लिये खड़े थे, उसी तरह मध्यकाल में एक तरफ वेद लिये तुलसी जैसे ब्राह्मण खड़े थे, दूसरी तरफ क़ुरान लिये जायसी जैसे मुल्ला थे। जातीय संस्कृति का कहीं पता न था। लेकिन मलिक मुहम्मद जायसी ने लिखा था—

"राघव पूज जाखिनी, दुइज देखाएसि साँझ।
वेदपंथ जे नहिं चलहिं, ते भूलहिं बन माँझ॥"

कहना चाहिये कि जायसी और तुलसीदास ने जन-साधारण के खिलाफ संयुक्त मोर्चा बना लिया था,—तुलसी ने कहा, तुम वेदों की तारीफ करो और हम तुम्हारी मस्जिद में पहरा दिया करेंगे ("माँगि कै खैबो मसीत को सोइबो लेबे को एक न देबे को दोऊ")।

लेकिन यह किसी को भ्रम न होना चाहिये कि रांगेय राघव तुलसी को महान् कवि नहीं मानते। उनकी समस्या इतनी ही है कि "तुलसी को जनवादी साबित करके ही क्या उनकी महत्ता प्रकट होती है?"

अगर हम "कला कला के लिये" सिद्धान्त मानें या साहित्य की महत्ता विचारों की महत्ता से निरपेक्ष मानें तो कोई न कोई कारण ढूँढ़कर तुलसी को जनवादी माने बिना भी उन्हें महान् सिद्ध कर सकते हैं। लेकिन स्वयं तुलसी विचारशून्य साहित्य के पक्षपाती नहीं थे। उनकी प्रतिज्ञा थी—

"हृदय सिंधु मति सीप समाना। स्वाती सारद कहहिं सुजाना।
जो बरखै बरबारि बिचारू। होंहिं कबित मुकता मनि चारू॥"

बिना महान् विचारों के कविता के मुक्तामणि नहीं मिलते। इसलिये तुलसी के विचारों को दरकिनार करके उनकी महत्ता आँकना कला में विचार-शून्यता के सिद्धान्त का समर्थन करना है।

जो लोग कहते हैं कि तुलसीदास के विचारों का सारतत्व वर्णाश्रम धर्म का समर्थन है, वे तुलसी-साहित्य के अपार सौन्दर्य से अपने को अछूता रखते हैं। वर्णाश्रम धर्म के समर्थन में कहीं अमर महाकाव्यों की रचना होती है, कहीं करोड़ों जनों के हृदय को रस-विह्वल कर देने वाले सौन्दर्य की सृष्टि होती है?

हर महान् साहित्यकार की तरह तुलसी ने भी अपने समय के यथार्थ जीवन को बहुत गहराई से साहित्य में प्रतिबिम्बित किया है। यह यथार्थ का चित्र पुरोहितों-सामन्तों को पसन्द नहीं है ; उसमें उन्हें अपनी भद्दी शक्लें दिखाई देती हैं। जिस तरह उन्होंने वेद-मन्त्रों को "धरो टका" के लिये काम में लाकर जन-संस्कृति की परम्परा को प्रायः वेद-विहीन कर दिया, उसी तरह तुलसी को भी उन्होंने अपने स्वार्थ के लिये काम में लाकर और जब तब निर्लज्जभाव से प्रक्षिप्त अंशों द्वारा भी जन संस्कृति से अलग करने की कोशिश की। तुलसी के ये 'भक्त' जहाँ जनता या सामाजिक यथार्थ की बात सुनते है, नाक-भौं सिकोड़ कर कहते हैं कि ये प्रगतिवादी अपना पक्ष मज़बूत करने के लिये तुलसी को भी खींचतान करके प्रगतिवादी सिद्ध करना चाहते हैं। उनकी दृष्टि में तुलसी का रूप संसार से उदासीन, भक्ति में लीन, वर्णाश्रम धर्म का समर्थक ब्राह्मण का है और यहाँ पर रांगेय राघव जैसे "वैज्ञानिक" विचारक उनकी मदद के लिये आ पहुँचते हैं और जनता से कहते हैं, तुलसी तुम्हारा नहीं है ; वह ब्राह्मणवाद का कवि है। उसका महत्व भी है तो इसीलिये कि वह वर्णाश्रम धर्म का समर्थक था। इस तरह प्रतिक्रियावादी पुरोहित संप्रदाय और तथाकथित "वैज्ञानिक" रांगेय राघव आदि का मूलतः दृष्टिकोण एक ही है—जन संस्कृति से अलग करके तुलसी को सामन्ती विचारधारा के समर्थक के रूप में देखना।

लेकिन तुलसी के काव्य-सौन्दर्य का जन्म वर्णाश्रम के समर्थन से नहीं हुआ, तुलसी भारतीय जनता की दुःसह वेदना के कवि हैं। तुर्कों और देशी सामन्तों के शासन और अत्याचार के नीचे पिसती हुई भारत की प्रजा के दुख को तुलसी से अधिक किसने पहचाना था? किसकी मर्मवाणी जनता की दीनता और दरिद्रता को देखकर इस तरह करुणा से भीग उठी थी? क्या हिन्दी साहित्य में तुलसी से बड़ा कोई भी करुणा का कवि पैदा हुआ है? और क्या यह करुणा सामन्तों और पुरोहितों के प्रति उमड़ चली है?

तुलसी का हृदय वास्तव में अगाध सिन्धु की तरह है। हिन्दुस्तान की जनता ने जो कुछ सुन्दर, सबसे अधिक मानवीय, सबसे अधिक मार्मिक उत्पन्न किया है, उसमें तुलसी सबसे सुन्दर, सबसे मानवीय, सबसे मार्मिक है। तुलसी के हृदय-सिन्धु ने भरत, कौसल्या, राम, लक्ष्मण, सीता जैसे पात्रों की सृष्टि की

है। ये पात्र मानव की ममता, करुणा, दया, क्रोध, शूरता आदि भावों के अन्यतम प्रतीक हैं। तुलसी ने जहाँ एक ओर सीधे-सीधे दैन्य का वर्णन करके कोटि-कोटि जनता की मर्मव्यथा को व्यक्त किया है, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने रामायण के पात्रों में उन गुणों का चित्रण किया है जिन्हें वे जनता में विकसित होते देखने चाहते थे। वह एक ओर जनता की व्यथा से विकल हैं तो दूसरी ओर उस व्यथा को शान्त करने के लिये राम को आशाओं के केन्द्र के रूप में देखते हैं। राम का वह महत्त्व न वाल्मीकि के लिये था, न कालिदास और भवभूति के लिये जो कि हमारे तुलसी महान् के लिये था। भारत के प्राचीन कवि राम के पास वह वेदना का अथाह सागर लेकर न पहुँचते थे जो तुलसी के हृदय में लहरा रहा था। तुलसी की भक्ति में जो तन्मयता, जो भावावेश, जो उत्कट आत्मनिवेदन है, वह इसीलिये कि तुलसी अपने युग की व्यथा से व्यथित हैं। तुलसी का आत्मनिवेदन भक्तों के अतिरंजित दैन्य वर्णनों से बिल्कुल भिन्न कोटि का है। तुलसी ने अपने जीवन के एक-एक क्षण में जिस पीड़ा का अनुभव किया था, वही उनके आत्मनिवेदन को इतना हृदयस्पर्शी बनाती है। वर्ग-समाज में जनता की वेदना एक ध्रुव सत्य है जो किसी न किसी रूप में साहित्य में प्रकट होती ही है। तुलसी की महत्ता इस बात में है कि वे इस वेदना के सबसे बड़े कवि हैं।

लेकिन वह निराशा के कवि नहीं हैं। उनकी आशाओं के केन्द्र राम हैं जिनसे बार-बार तुलसी जन-जीवन के कष्ट दूर करने की प्रार्थना करते हैं। इतना ही नहीं, वह जनसाधारण से, राम का भरोसा करके, अन्याय और अपमान के सामने सर ऊँचा करके खड़े होने को कहते हैं। चारों ओर से रूढ़िवादियों के आक्रमण होने पर समरशूर की तरह तुलसी ने शत्रुओं को काशी में ही चुनौती दी और जो ज्ञान पुरोहितों की बपौती बना हुआ था, उसे नया रूप देकर उन्होंने उसे जन-सम्पति बना दिया। तुलसी मध्यकाल के उन थोड़े से कवियों में हैं जो समाज को निष्क्रियता का सन्देश नहीं देते। उनके राम उन थोड़े से पात्रों में से हैं जो संघर्ष की तरफ तटस्थता, जीवन-संग्राम में निष्क्रियता, कर्म की जगह केवल आनन्दवाद के प्रचारक नहीं हैं। तुलसी ने राम में वह सब कुछ मूर्तिमान कर दिया है जो उनके युग की जनता होना चाहती थी। रावण के

अन्याय पर विजयी राम भारतीय जनता की विजय-अभिलाषा के प्रतीक हैं। तुलसी के राम भारतीय साहित्य के उन वीर नायकों की परम्परा में हैं जो अन्यायी को समझाने-बुझाने के बाद उसके हठ को शक्ति से चूर कर देते हैं। वह शील, शक्ति और सौंदर्य तीनों के ही प्रतीक हैं। इसमें भी उनका प्रेमविह्वल रूप—"कहुँ पट कहुँ निषंग कहुं तीरा" वाला रूप—भारतीय साहित्य में अद्वितीय है।

तुलसी निषेध के कवि नहीं हैं। वह सहज अपावन नारि के सौन्दर्य वर्णन में हर रोमाण्टिक कवि को परास्त करने के लिये तत्पर हैं। वैराग्य और जीवन के संघर्ष में वह यथार्थ जीवन के साथ हैं। वह अपने समाज की व्यवस्था से असन्तुष्ट थे। वह वैरागी होते तो उनके लिये यह कहना आसान होता कि संसार छोड़कर अनहदनाद सुना करो लेकिन वह इस जीवन में भी मनुष्य जीवन को सुखी बनाना चाहते थे, इसलिये वह एक आदर्श समाज रचना चाहते थे।

तुलसी ने जन भाषा के सौन्दर्य को इस तरह पहचाना था, जैसे उनके पहले या बाद को किसी ने नहीं पहचाना। वे इन साधारण शब्दों से सभी रसों, सभी भावों के लिये उचित रूप गढ़ लेते थे। तुलसी के चित्रों में विराट् को समेट कर संक्षिप्त करके उसे घनत्व प्रदान करने की अद्‌भुत क्षमता है। उनके कुछ दोहे किसी महाकाव्य के एक एक सर्ग का सौन्दर्य अपने में केन्द्रित किये हैं। रूपकों के वह सम्राट् हैं। इसके सिवा उनके काव्य की आत्म-विभोर गेयता संसार के महान् लिरिकल कवियों जैसी है। तुलसी के इस काव्य-सौन्दर्य का स्रोत देश की जनता के प्रति उनका अगाध स्नेह है जिसके वशीभूत होकर वह राम के भक्तों को राम से बढ़ कर मान लेते हैं—

"मोरे मन अस दृढ़ बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा ॥"

लेकिन हमारे "वैज्ञानिक" विचारकों को तुलसी में यह सब कुछ नहीं दिखाई देता। उनके लिये मध्यकालीन इतिहास का मूल संघर्ष इस्लाम और हिंदू संस्कृति का संघर्ष है और तुलसी महान् हैं तो इसीलिये, प्रतिक्रियावादी तो इसीलिये। लेकिन वह अपने समय के वर्णाश्रम धर्म के समर्थक थे, यह कोई

नहीं कहता। उन्होंने पुरोहितों और राजाओं की जो आलोचना की है वह "वैज्ञानिकों" के अनुसार जनता को बहकाने के लिये! उन्होंने इस्लाम के विरुद्ध क्या-क्या लिखा है, इसका प्रमाण हिन्दू-संस्कृतिवादी नहीं देते।

साहित्य में संकीर्णतावाद क्या है, कुत्सित समाजशास्त्र क्या है, इसे समझने के लिये रांगेयराघव के तुलसी-संबंधी निबन्ध पढ़ लेना काफी है। तुलसी ने जो नैतिक मूल्य काव्य में चित्रित किये हैं—शिशु के भोलेपन से प्यार, दंभ से घृणा, अन्याय के प्रति रोष—यह सब हमारे मित्रों के लिये सामन्तवाद का समर्थन है। भले ही इन मित्रों की आलोचना विज्ञान का डंका पीटती आये, उसके स्वर में अंग्रेजी संगीत पहचानना मुश्किल नहीं है जिसने हमारे कुछ बुद्धि जीवियों को यह सिखलाया है कि भारत की जनता घृणा के योग्य है और जिन कवियों को वह प्यार करती आई है, वे भी घृणा के योग्य हैं। संस्कृति की तरफ उनके कॉस्मोपौलिटन, अजातीय दृष्टिकोण का यह भी एक प्रमाण है। जिन कवियों ने जातीय संस्कृति को समृद्ध किया है, उन्हीं पर आक्रमण करके वे जातीय संस्कृति की परम्परा को कमजोर कर देना चाहते हैं। उसका नतीजा उनकी अपनी कृतियों में साफ दिखाई देता है जो ऐसी अनुपम कला का नमूना होती हैं कि पढ़ने वाले को लगता है कि इनके यहाँ या तो अच्छा लिखने वाले पैदा नहीं हुए या इन्होंने उन्हें पढ़ा नहीं। हिन्दी साहित्य की जनवादी परंपरा को नष्ट करना इनकी सामर्थ्य के बाहर है; इसलिये साहित्यकार के रूप में वे खुद ही आत्मघात करके अपने अस्तित्व को सार्थक कर देते हैं।

(२)

"विवेचना" की भूमिका में श्री इलाचन्द्र जोशी कहते हैं, "अपने प्रगतिवादी बंधुओं से मेरा निवेदन है कि वे अपने रूढ़िवादी दृष्टिकोण की हठधर्मिता त्याग कर सूक्ष्म विचार पूर्वक मेरे निबंध को पढ़ और उसके यथार्थ मर्म समझने का प्रयत्न करें।"

स्वागत। हम सभी तरह के रूढ़िवाद के विरोधी हैं, भले ही वह प्रगतिवादी रूढ़िवाद ही क्यों न हो।

जोशी जी विश्वास दिलाते हैं कि उनका दृष्टिकोण "किसी भी अर्थ में

प्रतिक्रियावादी नहीं है, बल्कि सच्ची प्रगति में रूढ़िवादी प्रगतिवाद से बहुत आगे बढ़ा हुआ है और जिसका वास्तविक बाह्य प्रगति से कोई विरोध नहीं है, बशर्ते वह अन्तर्प्रगति को आधार रूप में अपनाये हुए हो।"

यह और भी अच्छा है कि वह प्रगतिवाद से आगे बढ़ा हुआ है, कारण कि कुछ लोगों को चिन्ता होती है कि वाद देशकाल से सीमित होते हैं। कुछ समय के बाद जब प्रगतिवाद की उपयोगिता खत्म हो जायगी, तब हम क्या करेंगे? उसके लिये जोशी जी अभी से इन्तजाम किये देते हैं। वह यह भी विश्वास दिलाते हैं कि उनका वास्तविक बाह्य प्रगति से कोई विरोध नहीं है; शर्त यह कि वह अन्तर्प्रगति को आधार रूप में अपनाये हुए हो।

मार्क्सवाद एकांगी ही नहीं पुराना भी पड़ गया है, इसलिये उसे भरा पूरा बनाने के लिए या उसके उपयोगी तत्व लेकर एक समन्वयात्मक प्रगतिवाद रचने की आवश्यकता अनुभव करके जोशी जी ने लिखा है, "यदि वे जानबूझकर प्रगतिवाद के नाम पर संस्कृति के क्षेत्र में १०० वर्ष पुरानी मार्क्सीय रूढ़िवादिता को अपनावें और यथास्थित्यात्मक दृष्टिकोण का अनुसरण करना चाहें तो यह बात दूसरी है। इसका उन्हें पूरा अधिकार है। पर यदि वे सच्चे हृदय से यह मानते और चाहते हैं कि प्रगतिवाद के नाम पर किसी भी यथास्थित्यात्मक जगड्वाल को (चाहे वह मार्क्सीय ही क्यों न हो) अपनाये रहना घोर मूर्खता है, तो मैं उनसे अनुरोध करूँगा कि वे मेरे नये प्रगतिवाद का अनुसरण करें जिसमें वास्तविक बाह्य प्रगति तथा अन्तरीण प्रगति को समान-समन्वयात्मक-रूप से अपनाया गया है।"

हम हर तरह की मूर्खता के विरुद्ध हैं, घोर मूर्खता के तो और भी। इसलिये हम समान समन्वयात्मक दृष्टिकोण के बारे में जो कुछ कहा जायगा, उसे ध्यान से सुनेंगे।

मार्क्स के और अपने युग की तुलना करते हुए जोशी जी कहते हैं, "मैं जानता हूं कि मार्क्स अपने जमाने में घोर प्रगतिशील था, पर हम लोग जो मार्क्स से सौ साल बाद आगे बढ़ गए हैं, स्वभावतः उससे कहीं अधिक प्रगतिशील हो गए हैं।"

यह अधिक प्रगतिशीलता फ्रायड आदि के मनोविश्लेषण शास्त्र की

रचना से सम्भव हुई है। मार्क्स और फ्रायड की तुलना करते हुए जोशी जी कहते हैं, "मार्क्स और फ्रायड ये दोनों महारथी एक ही मूल सत्य के दो छोरों के प्रतिनिधि हैं। मार्क्स ने बाह्य जगत् की कालानुक्रमिक प्रगतिशीलता का हमें पाठ पढ़ाया है और सामूहिक जीवन की वास्तविकता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करके उसके सुचारु संगठन का उपाय सुझाया है। यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण बात है, जिसके उद्देश्य की मांगलिकता पर किसी भी समझदार व्यक्ति को सन्देह नहीं हो सकता। पर फ्रायड ने भी अन्तर्जगत् के गहन सत्य की पूंजीभूत जटिलताओं की ओर हमारी आँखें प्रेरित की हैं तथा जीवन और जगत् का एक नया ही दृष्टिकोण हमारे सामने रखा है, जो मार्क्सीय दृष्टिकोण से किसी कदर कम महत्वपूर्ण नहीं है।"

एक महत्वपूर्ण दृष्टिकोण हो तो भी काम चल जाता है; दो-दो महत्वपूर्ण दृष्टिकोण हों तो बात ही क्या। कभी यह इस्तेमाल किया कभी वह इस्तेमाल किया।

जोशी जी के दृष्टिकोण की सार्थकता तब मालूम होती है जब वे अपना समन्वयात्मक दृष्टिकोण साहित्य पर लागू करते हैं। तब वे अन्तर्जगत् के गहन सत्य की पुंजीभूत जटिलताओं का उद्घाटन बड़ी सफलता से करते हैं। मिसाल के लिये हिंदी में प्रगतिवाद का चलन क्यों हुआ? जोशी जी कहते हैं, "प्रगतिवादी कवियों की रचनाओं को मनोनिवेश पूर्वक पढ़ने से यह बात स्पष्ट हो जायगी कि समाज के प्रतिष्ठित नियमों के प्रति उनका विद्रोह समाज के सामूहिक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर नहीं बल्कि अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा की चरितार्थता में बाधा पहुँचने के कारण, समाज के विरुद्ध उसी पुरानी प्रतिहिंसा की मनोवृत्ति के विस्फोट के फल स्वरूप व्यक्त हुआ है।"

मिसाल के लिये शिवमंगलसिंह सुमन को ग्वालियर के बदले उज्जैन में प्रोफेसरी मिली, नागार्जुन मठाधीश न होकर मारे मारे फिरते रहे, शंकर शैलेन्द्र को सिनेमा में नौकरी न मिली, केदार की वकालत न चली, शील का यथेष्ट सम्मान कानपुर में न हुआ, वगैरह। इस तरह प्रगतिवाद की हम एक समन्वयात्मक व्याख्या कर सकते हैं—समाज विरोधी प्रतिहिंसा का विस्फोट। लेकिन यह व्याख्या नयी नहीं है। पन्तजी, नवीन जी आदि कवियों से हम

यह पहले ही सुन चुके थे, ये प्रगतिवादी प्रतिहिंसावादी हैं। जोशी जी का दृष्टिकोण उसी परिणाम पर पहुँचाता है जहाँ पन्त जी का समन्वयवाद।

अब देखिये, छायावादी कवियों ने किस प्रेरणा से रचनाएँ कीं। जोशी जी का मत है कि "हमारे अधिकांश छायावादी कवियों ने कविता इसलिये नहीं की कि वे दुःख दैन्य पीड़ित और जीवन-ज्वर से जर्जरित मानवता को विश्व कल्याणकारी स्वस्थ सौन्दर्य से परिचित करावें बल्कि इसलिये कि वे सौंदर्य की सहज ओट में अपने विकृत मनोभावों को व्यक्त करके अपने भीतर के दांभिकताजनित, स्वार्थक्लेशयुक्त फोड़ों को फोड़ सकें।"

छायावाद अर्थात् फोड़ों का मवाद! चलो छोड़ो इसे भी। लेकिन यह न समझिये कि हिन्दी के कुछ छायावादी कवियों ही ने यह अपराध किया है। अंग्रेजी के स्वनाम धन्य शैली, बायरन और कीट्स को लीजिये। जोशी जी की सम्मति है, "रोमान्टिक कवि स्वभावतः कैसे आत्मगत और विकृत स्वार्थ पूर्ण प्राणी होते हैं, इस बात के अनेक उदाहरण उनके जीवन इतिहास से मिल सकते हैं। शेली ने अपने स्वार्थ के लिये अपनी प्रथम स्त्री को त्याग कर उसे आत्महत्या के लिये विवश किया। बायरन ने अपने जीवन में न जाने कितनी महिलाओं का जीवन बर्बाद कर दिया, इसका ठिकाना नहीं। कीट्स की घोर आत्मगत मनोभावना का परिचय मनोवैज्ञानिकों को दूसरे रूप में मिलता है।"

लगता है कि ब्रिटेन की समाज व्यवस्था, पूँजीपति और पुरोहित पाखंडी साहित्यकार शेली, बायरन और कीट्स पर किसी तरह के अत्याचार के लिये जिम्मेदार न थे। सारी जिम्मेदारी इन नर-राक्षसों की ठहरती है जो किसी को आत्महत्या के लिये विवश कर रहे थे, किसी की जिन्दगी बर्बाद कर रहे थे। जोशी जी का समानसमन्वयात्मक दृष्टिकोण समाज के उत्पीड़क वर्ग को सामाजिक अन्याय से काफी मुक्त कर देता है क्योंकि इंसान की बर्बादी के लिये वे जिम्मेदार नहीं हैं बल्कि हर मनुष्य के हृदय में बैठा हुआ राक्षस है। इस दृष्टिकोण से भी हम साहित्य में परिचित हैं। आये दिन सुना करते हैं, लोगों की गरीबी की जिम्मेदारी साम्राज्यवाद या कॉंग्रेसी नेताओं पर नहीं है, अपने

को सुधारो तो सारा समाज सुधर जायगा। दृष्टिकोण दो लेकिन नतीजा एक ही।

सन्त कवियों को लीजिये। "सन्त तथा भक्त कवियों ने साहित्य तथा धार्मिक जगत् को एक निराले प्रेमोन्माद से छा दिया। उन लोगों ने अपने अनजान में अवचेतन मन की 'फेन्टसीज' की छायानुभूतियों की लगाम इस कदर ढीली कर दी कि सोच कर आश्चर्य होता है।"

प्रगतिवादियों की तरह इनमें भी विश्व कल्याण की भावना का अभाव था। साहित्य में उन्हीं दमित प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति है।

वैष्णव कवि और उनमें भी जयदेव विशेष रूप से दोषी हैं। जोशी जी जयदेव की सी ही ललित पदावली में उन्हें याद करते हैं। "कुछ वैष्णव कवियों ने तो राधाकृष्ण का प्रेम वर्णन करते समय आध्यात्मिक रूपकों में बाह्यावरण भी उतार कर फेंक दिया है और विशुद्ध वासना के विषैले श्वासों का स्वच्छंद उद्गीरण किया है। 'गीत गोविन्द' के रचयिता जयदेव को मैं इस कोटि के कवियों में अन्यतम मानता हूँ। ....जयदेव आदि कवियों की श्रृङ्गारिकता अत्यन्त अस्वस्थ और विकृत है—वह दमित यौन वृत्ति के विकारों से ग्रस्त पागल का प्रलाप है।"

यह बात जयदेव के लिये सत्य है तो यह भी सत्य होगा कि आज तक जो पाठक उनकी पदावली में रस लेते रहे हैं, वे सभी दमित यौन वृति के विकारों से ग्रस्त रहे हैं, पागलों का प्रलाप सुनने में रसानभूति करते रहे हैं!

चंडीदास के बारे में सुना है कि बड़े ही सुन्दर कवि हैं। जोशी जी के अनुसार उन्होंने अपने जीवित प्राणों की रसानुभूति की उन्मादना तो दी लेकिन "स्नायु विकार-ग्रस्त भावोद्‌गारों से वे भी बच न सके।" गनीमत यही है कि दमित यौन वृत्ति के विकारों से ग्रस्त होने के बदले वे स्नायु-विकार-ग्रस्त थे।

इसमें संदेह नहीं कि कालिदास महान् कवि हैं लेकिन किसलिये? इसलिये कि अभिज्ञान शाकुंतल में "आरंभ से अंत तक उन्होंने अपने नायक को धूर्त, छली, कपटी और घोर स्वार्थ परायण चित्रित किया है।"

एक और महान् ग्रंथ है, महाभारत। यह ग्रंथ क्यों महान् है? इसलिये कि "सब देशों ने, सर्वकाल ने, धर्म और नीति के जो तत्व प्रतिपादित किये हैं, महाभारत के मनीषियों ने उनके प्रति वृद्धांगुष्ठ प्रदर्शित करके प्रबल फूत्कार से उन्हें उड़ा दिया है।" (साहित्य-सर्जना, पृ० ४८)

इसमें सन्देह नहीं कि जोशी जी ने अपने समन्वयात्मक दृष्टिकोण से बहुत से पुराने और नये साहित्यकारों के अन्तर्जगत् में पैठकर उनकी जटिलताओं के सत्य को उद्घाटित कर दिया है। कहना चाहिये, बड़ों बड़ों कोउन्होंने वृद्धां-गुष्ठ प्रदर्शित करके प्रबल फूत्कार भी किया है लेकिन इससे यही पता चलता है कि साहित्य रचने और पढ़ने वाले अधिकतर दमित यौन विकारों से ग्रस्त रहते हैं। साहित्य की कोई लोक-मंगलकारी भूमिका नहीं है। इसके सिवा समाज के अत्याचारी और शोषक वैसे ही अपने अन्दर के राक्षसों से परेशान थे जैसे शोषित। इसलिये सामाजिक विकास की मूल धुरी हुई, सब लोग अपने भीतर के राक्षसों से लड़ो। और जब तक ये राक्षस न मारे जायेंगे तब तक बाह्य जीवन को बदलने की सारी कोशिशें बेकार होंगी।

इसके बदले मार्क्सवाद कहता है कि अपने भौतिक जीवन की परिस्थि-तियों को बदलने के लिये कोशिश करते हुए ही तुम अपने को भी बदलोगे। इसलिये परिस्थितियों को पहचानो, उन्हें अपने हित में बदलो। इसी तरह तुम्हारे संस्कार बदलेंगे और शोषण मुक्त सुसंस्कृत समाज की रचना होगी। यह सिद्धान्त जोशी जी को सौ बरस पुराना और रूढ़िवादी मालूम होता है। अगर अमल से देखें तो करोड़ों आदमियों के जीवन में वह सही साबित हो चुका है। इसके बदले फ्रायड आदि के सिद्धान्त यूरोप में कुछ क्रान्ति-विरोधियों के जरूर काम आये हैं लेकिन वहाँ भी वे सामाजिक प्रगति को रोकने में असमर्थ हो रहे हैं। हिन्दुस्तान में उनके पुर्साहाल तो और भी कम हैं।

नतीजा यह कि मार्क्सवाद फ्रायड के सिद्धान्त से समन्वय नहीं करता बल्कि उसे अवैज्ञानिक कह कर उसका खंडन करता है। फ्रायडवादी विचार धारा साहित्य की परंपरा से कैसा सलूक करती है, यह जयदेव, भक्त कवियों, छायावादी और प्रगतिवादी साहित्यकारों पर जोशीजी की सम्मति से पता चल जाता है।

भारतीय संस्कृति बनाम मार्क्सवाद

(१)

"उत्तरा" की भूमिका में पंतजी कहते हैं, "अपने युग को मैं राजनीतिक दृष्टि से जनतन्त्र का युग और सांस्कृतिक दृष्टि से विश्वमानवता अथवा लोक-मानवता का युग मानता हूँ।"

अगर राजनीति और संस्कृति विरोधी वस्तुएँ न हों तो जनतन्त्र और लोकमानवता एक दूसरे की विरोधी न होकर पूरक हों। आखिर वह लोक-मानवता इस लोक ही में विकसित होती है, परलोक में नहीं। इसलिये यह कल्पना करना कठिन है कि जनवादी राजनीति से भी लोक-संस्कृति के लिये खतरा हो सकता है।

पंतजी राजनीतिक वादों के बारे में कहते हैं, "राजनीति के क्षेत्र के किसी भी प्रगतिकामी वाद या सिद्धान्त से मुझे विरोध नहीं है; एक तो राजनीति के नक्कारखाने में साहित्य की तूती की आवाज कोई मूल्य नहीं रखती, दूसरे, इन सभी वादों को मैं युग-जीवन के विकास के लिये किसी हद तक आवश्यक मानता हूँ ....सांस्कृतिक दृष्टि से इनकी सीमाओं से अवगत तथा साधनों से असन्तुष्ट होने पर भी मैं अपने युग की दुर्निवार तथा मानव मन की दयनीय दुर्बोध सीमाओं से परिचित एवं पीड़ित हूं।"

आश्चर्य की बात है कि पंतजी जनवादी राजनीति से विरोध न मानते हुए भी उसके साधनों से असन्तुष्ट हैं, मानव मन की सीमाओं से पीड़ित हैं। लेकिन पंतजी की संस्कृति राजनीति से पराङ्मुख नहीं है। उसे राजनीतिक हलचलों से बेहद दिलचस्पी है, यहाँ तक कि वह अपनी कार्यवाही से उन हलचलों को रोक तक लेना चाहती है। पंतजी जानते हैं कि आज हिंदुस्तान की ही जनता नहीं, सारी दुनियाँ की जनता अपने अधिकारों के लिये संघर्ष कर रही है। भारतीय जनता का संघर्ष विश्व जनता के संघर्ष का ही एक अंग है। इस सचाई को

लक्ष्य करके पंतजी उसी भूमिका में कहते हैं, "ऐसे विश्व-संघर्ष के युग में सांस्कृतिक संतुलन स्थापित करने के प्रयत्न को मैं जाग्रत चैतन्य मानव का कर्तव्य समझता हूँ। और यदि वह संभव न हो सका तो क्रान्ति का परिस्थितियों द्वारा संगठित सत्य तो भूकम्प, बाढ़ तथा महामारी की तरह है ही, उसके अदम्य वेग को कौन रोक सकता है?"

परिस्थितियों द्वारा सङ्गठित सत्य है क्रान्ति। जीवन की परिस्थितियाँ मनुष्य को क्रान्तिकारी परिवर्तनों की तरफ ठेल रही हैं। लेकिन ये परिवर्तन पंतजी को भूकम्प, बाढ़ तथा महामारी की तरह भयानक लगते हैं। इन परिस्थितियों के अदम्य वेग को रोकने के लिये पंतजी के पास कौन-सी औषधि है? पंतजी के पास जो औषधि है, उसे वे सांस्कृतिक संतुलन कहते हैं। इस सांस्कृतिक संतुलन का जो भी अर्थ हो, एक बात साफ है और वह यह कि इस संतुलन की एक शुद्ध राजनीतिक उपयोगिता भी है,—क्रान्ति को रोकना। क्रान्ति का वेग अदम्य है, यह देखकर पंतजी मानवमन की दयनीय सीमाओं से पीड़ित हो जाते हैं।

पंतजी राजनीति और संस्कृति के समन्वय के पक्षपाती हैं। विशेष रूप से वह मार्क्सवादी राजनीति और भारतीय संस्कृति के समन्वय के पक्षपाती हैं। उनका दृष्टिकोण एकाङ्गी नहीं है। वह समन्वय के लिये इतने उत्सुक हैं कि मार्क्सवादी राजनीति में जो खराबियाँ हैं, उन्हें दूर करके उसके विशुद्ध लोकपक्ष को वैसी ही विशुद्ध भारतीय संस्कृति से मिला देना चाहते हैं।

मार्क्सवाद के बारे में पन्तजी "उत्तरा" की भूमिका में कहते हैं, "मैं मार्क्सवाद की उपयोगिता एक व्यापक समतल सिद्धान्त की तरह स्वीकार कर चुका हूँ। किन्तु सांस्कृतिक दृष्टिकोण से उसके रक्तक्रान्ति और वर्ग-युद्ध के पक्ष को मार्क्स के युग की सीमाएँ मानता हूँ!" पंतजी चाहते हैं कि मार्क्सवाद एक व्यापक समतल सिद्धान्त की तरह उपयोगी हो लेकिन मुश्किल यह है कि वह न तो सभी वर्गों के लिये समान रूप से व्यापक है और न सभी के लिये समतल है। उसका ऊबड़-खाबड़पन क्रान्ति और वर्ग-संघर्ष के कारण है। पन्त जी इन्हें निकाल कर उसे समन्वय के उपयोगी बनाना चाहते हैं।

वर्ग-युद्ध और क्रान्ति मार्क्स के युग की सीमाएँ किस तरह थीं, इसकी

व्याख्या करते हुए पंतजी ने आगे लिखा है, "मार्क्स ने, समस्त पश्चिम के ज्ञान को आत्मसात् कर, सिर के बल खड़े हीगल को पैरों के बल खड़ा नहीं किया; यूरोप का मनोद्वंद्व ही तब अपने आर्थिक राजनीतिक चरणों पर खड़ा होकर 'युद्धं देहि' कहने को सन्नद्ध हो उठा था; जिसका पूर्वाभास पाकर युग-प्रबुद्ध मार्क्स ने उस पर अपने वर्ग-युद्ध के सिद्धांत की रक्त की छाप लगा दी। डारविन ने जहाँ, पूँजीवाद के अभ्युदय काल में अपने 'सरवाइवल ऑफ दि फिटेस्ट' के सिद्धान्त को''''जीव विकास क्रम पर प्रतिपादित एवं प्रतिष्ठित किया, वहाँ मार्क्स ने यंत्र युग के आर्थिक चक्रों से जर्जर, सर्वहारा का पक्ष लेकर वर्ग-युद्ध के सिद्धान्त को द्वंद्वतर्क से परिचालित, ऐतिहासिक विकास-क्रम में (युग संकट के समाधान के रूप में) ।"

पंतजी ने मार्क्सवादी राजनीति का मोटा अर्थ लगाया है—वर्गयुद्ध का सिद्धान्त । इस सिद्धान्त का पूर्वाभास मार्क्स को मिला यूरोप के मनोद्वंद्व में । यह मनोद्वंद्व किन मनुष्यों में, किन रूपों में हो रहा था, इस पर पन्तजी ने प्रकाश नहीं डाला लेकिन इतना जरूर बतलाया है कि यह मनोद्वंद्व आर्थिक राज-नीतिक चरणों पर खड़ा हो गया था । दूसरे शब्दों में कुछ लोगों का मानसिक संघर्ष आर्थिक राजनीतिक संघर्ष को जन्म दे रहा था । इससे पता चलता है कि मार्क्स के समय में वस्तुगत सत्य सर्वहारावर्ग और पूँजीपतियों का संघर्ष न था बल्कि सत्य था कुछ लोगों का मानसिक संघर्ष जो बाह्य जगत् में युद्ध के के लिये ललकारने लगा । यदि उस समय यूरोपवालों को सांस्कृतिक संतुलन का सत्य मालूम होता तो वर्गयुद्ध और रक्तक्रान्ति के प्रेमी मार्क्सवाद का जन्म न होता ।

मार्क्स मनोविज्ञान का चतुर पण्डित था । उसे पता चल गया कि मनोद्वंद्व युद्धं देहि की पुकार करने वाला है । इसलिये उसने तुरन्त उस पर वर्ग-युद्ध की रक्त छाप लगाकर उसके सर्वाधिकार सुरक्षित करा लिये । डारविन ने जो काम जीव विकास क्रम में किया यानी उस क्रम पर जिसकी लाठी उसकी भैंस वाला सिद्धान्त लागू किया, वही काम मार्क्स ने ऐतिहासिक विकास क्रम में किया यानी यहाँ भी हिंसा का सिद्धान्त लागू कर दिया ।

लेकिन वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त मार्क्स ने ईजाद न किया था । यह सिद्धांत

पूँजीपति पहले से ही जानते थे, उसे अक्सर मानते भी थे। मार्क्स ने इस वर्ग-संघर्ष को खत्म करके, पूँजीवादी हिंसा और शोषण का राज्य खत्म करके मजदूरों को अपना राज्य कायम करने का रास्ता दिखाया। मार्क्स का ऐतिसिक महत्व इस बात में है कि उन्होंने मजदूर वर्ग को अपनी युगान्तरकारी भूमिका के प्रति सचेत किया। पंतजी चेतना की बातें करते नहीं थकते। भौतिकवाद की खास कमी उन्हें यह मालूम होती है कि वह चेतना को महत्व नहीं देता। लेकिन मार्क्स ने मजदूर वर्ग को शोषण के तमाम चक्रव्यूह का परिचय देकर उसे इतिहास को बदलने के लिये जो सचेत किया, वह वर्ग-चेतना पंतजी को घोर अचेतन मालूम पड़ती है।

"राज्य सत्ता और क्रान्ति" में लेनिन ने मार्क्सवाद और वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त के परस्पर सम्बन्ध के बारे में कहा है "अक्सर यह कहा और लिखा जाता है कि मार्क्स की थ्योरी का मूलसूत्र वर्ग-संघर्ष है, लेकिन यह सत्य नहीं है और इस गलती से अक्सर मार्क्सवाद का अवसरवादी तोड़मरोड़ पैदा होता है, उसे पूँजीपतियों के लिये ग्राह्य बनाने के लिये उसे झुठलाना शुरू होता है। कारण कि वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त मार्क्स द्वारा नहीं बल्कि मार्क्स से पहले पूँजीपतियों द्वारा रचा गया था और मोटे तौर से वह पूँजीपतियों को ग्राह्य भी है।"

लेनिन ने बताया है कि मार्क्सवाद को ग्रहण करने की असली कसौटी यह है कि आप मजदूर-राज्य के सिद्धान्त को मानते हैं या नहीं। पन्तजी के लिये मजदूर-राज्य का तो सवाल ही नहीं उठता, कारण कि वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त जो मार्क्स के समय पूँजीपतियों तक को मान्य था, वह भी पन्त जी को मान्य नहीं है।

युद्धं देहि की आवाज मार्क्स ने न लगाई थी। यूरोप (और एशिया को भी) आक्रांत करने वाले पूँजीवाद ने मजदूर वर्ग और तमाम औपनिवेशिक जनता को युद्ध की चुनौती दी थी। मार्क्सवाद उस चुनौती का उत्तर था, पूँजीवादी शोषण का अन्त करने के लिये, इस युद्धं देहि की आवाज का खात्मा करने के लिये। इसलिये जब डारविन ने जीव विकास क्रम पर पूँजीवाद का "खुद खाओ दूसरों को मारो" का सिद्धान्त लागू किया तो मार्क्स और

एंगेल्स उसकी व्यंग्यपूर्ण आलोचना किये बिना न रह सके। मार्क्स ने अपने एक पत्र में लिखा था, "यह सुन्दर है कि डारविन ने पौधों और पशुओं में फिर अपना अंग्रेजी समाज ढूँढ़ निकाला है जिसमें उसका श्रम-विभाजन, होड़, नये बाजारों का खुलना, 'आविष्कार' और जीवन के लिये माल्थस वाला संघर्ष है।" एंगेल्स ने "डायलेकिटक्स ऑफ नेचर" में लिखा था, "डारविन को यह पता न था कि उसने मनुष्यजाति पर कैसा तीव्र व्यंग्य किया है और खास तौर से अपने देशवासियों पर, जब उसने खुली होड़ जीवन के लिये संघर्ष को, जिसे अर्थशास्त्री सबसे बड़ी ऐतिहासिक सफलता मानते हैं, पशु-जगत् की साधारण दशा बतलाया है।"

इसलिये यह कहना कि जहाँ डारविन ने सरवाइवल आव दि फिटेस्ट के सिद्धान्त को जीवविकास क्रम पर लागू किया, वहाँ मार्क्स ने वर्ग-युद्ध को ऐतिहासिक विकासक्रम पर लागू किया, मार्क्स को पूँजीवादी चश्मे से देखना है और मजदूरवर्ग के नये जीवनदर्शन के क्रान्तिकारी रूप को अस्वीकार करना है। पंतजी जब लिखते हैं कि राजनीति के क्षेत्र के किसी भी प्रगतिकामी वाद या सिद्धान्त से मुझे विरोध नहीं है, तब महत्वपूर्ण बात यह नहीं होती कि उन्हें किसी वाद से विरोध है या नहीं बल्कि यह कि उन्होंने उस वाद या सिद्धान्त को सही तरीके से पाठकों के सामने रखा है या नहीं। जब वह कहते हैं, "मैं मार्क्सवादी (आर्थिक दृष्टि से वर्गसंतुलित) जनतंत्र तथा भारतीय जीवनदर्शन को विश्वशान्ति तथा लोककल्याण के लिये आदर्श-संयोग मानता हूं," तब सवाल यह उठता है कि यह वर्ग-संतुलित जनतंत्र है कौनसा जिसका संयोग पंतजी भारतीय जीवन दर्शन से करना चाहते हैं? मार्क्सवाद के लिये या तो जनतंत्र में पूँजीपतियों का आधिपत्य होगा या सत्ता जनसाधारण के हाथ में होगी। वर्ग-संतुलित जनतंत्र रचने की कोशिशें कॉमनवेल्थी प्रजातंत्रों में जरूर हो रही हैं जिनका उद्देश्य है कि जन संपत्ति के ट्रस्टी जमींदार-पूँजी-पति अपना शोषण क्रम भी जारी रखें और किसान-मजदूर रामराज्य में सन्तोष की साँस भी लेते रहें। लेकिन यह वर्ग-संतुलित या रोपडान्स ज्यादा सफल होता नहीं दिखाई देता।

पंतजी मार्क्सवाद के दर्शनपक्ष का खंडन करने के बाद उसके लोकपक्ष का

समर्थन करते हुए कहते हैं, "मार्क्सवाद का आकर्षण उसके खोखले दर्शनपक्ष में नहीं, उसके वैज्ञानिक (लोकतंत्र के रूप में मूर्त) आदर्शवाद में है, जो जनहित अथवा सर्वहारा का पक्ष है; किन्तु उसे वर्ग-क्रान्ति का रूप देना अनिवार्य नहीं है। वर्ग युद्ध का पहलू फासिज्म की तरह ही निकट भविष्य में पूँजीवादी तथा साम्राज्यवादी युग की प्रतिक्रिया के रूप में विकृत एवं विकीर्ण हो जायगा।"

पंतजी को जितना भय साम्राज्यवाद की प्रतिक्रिया से है उतना स्वयं साम्राज्यवाद से नहीं। उन्होंने जितना भगीरथ प्रयत्न मार्क्सवाद को शुद्ध करने में किया है, उतना साम्राज्यवादी विचारधारा से संघर्ष करने में नहीं। बल्कि साम्राज्यवादियों के प्रचार से मिलती-जुलती उनकी यह बात है कि मार्क्सवाद की जो प्रतिक्रिया होती है—जनआन्दोलन बढ़ते हैं, जनराज्य कायम होते हैं—वह फासिज्म की तरह विकृत है!

पंतजी मार्क्सवाद के ऐसे वैज्ञानिक आदर्शवाद में विश्वास करते हैं जिसमें अवैज्ञानिक वर्गसंघर्ष के बदले वैज्ञानिक वर्ग-सहयोग (या वर्गशोषण) हो। वह मार्क्सवाद के ऐसे लोकतंत्र में विश्वास करते हैं जो वर्ग और राज्यसत्ता के परस्पर संबन्धों के सवाल को न उठाये। वह जनहित अथवा सर्वहारा के पक्ष को अपनाना चाहते हैं बशर्ते कि सर्वहारा अपने अधिकारों के लियें न लड़े, जनता राज्यसत्ता को अपने हित में रचने के लिये उद्यत न हो। ये शर्तें पूरी न हुईं तो क्रान्ति फासिज्म की तरह महामारी और भूकम्प की तरह सबको तबाह कर देगी!

इसलिये पंतजी जिस वैज्ञानिक आदर्शवाद की बात कहते हैं, उसका विज्ञान से कोई संबन्ध नहीं है। वह जिस लोकतंत्र की बात कहते हैं, वह पूँजीवादी लोकतंत्र है जिसमें जनता सत्ता से वंचित रहती है। वह जिस जनहित अथवा सर्वहारा के पक्ष की बात कहते हैं, वह जनता अथवा सर्वहारा के विपक्षी वर्षों से कहते आये हैं।

पंतजी वैज्ञानिक आदर्शवाद या लोकतंत्र के पक्ष का समर्थन किस तरह करते हैं, यह उनकी कविताओं में बहुत स्पष्ट है। सामाजिक जीवन से अंतर्मन की श्रेष्ठता घोषित करते हुए पंतजी कहते हैं—

"सामाजिक जीवन से कहीं महत् अंतर्मन जीवन,
वृहत् विश्व इतिहास, चेतना गीता किन्तु चिरंतन !
भरदेगा भूखी धरती को अंतर्जीवन प्लावन,
मनुष्यत्व को करे समर्पित खंडितमन, कवलितन !
तुच्छ नहीं समझो अपने को, तुम हो पृथिवीवासी,
फिर तुम भारतवासी जो, वसुधैव कुटुंब प्रकाशी;
देखो, माँ के अंचल में जो रत्न बँधा अविनाशी,
जगत तारिणी भरतभूमि, वह नहीं भिखारिन, दासी ।"

भूखी धरती क्या चाहती है ? अन्तर्जीवन प्लावन ! सामाजिक जीवन में कष्ट पाने वाले मनुष्य क्या करें ? के अपना खंडित मत मनुष्यत्व को समर्पित करें । इस तरह भरतभूमि उन्हें ही न तारेगी, सारे संसार को भी तार देगी ।

पंतजी योगी अरविन्द से कहते हैं—

"आज लोक संघर्षों से जब मानव जर्जर,
अतिमानव बन तुम युग संभव हुए धरा पर !"

मानव लोक संघर्षों से जर्जर हो गया है । इन लोक संघर्षों से उसकी रक्षा करने के लिये योगी अरविन्द का अवतार हुआ है । एक कल्पित सामंती राज्य में जब प्रजा विरोध प्रकट करने लगती है और—

"इन्कलाब के तुमुल सिन्धुसा एक रोज हो उठा तरंगित,
वह छोटा सा राज्य क्रुद्ध जनता के आवेशों से नादित !"

तब पंतजी के मन में लोकसंघर्षों से जर्जर मनुष्य के प्रति सहानुभूति उमड़ आती है और वह कह उठते हैं, —

"तंत्रमात्र से हो सकते न मनुजपरिचालित,
उनके पीछे जब तक हो न चेतना विकसित ।
प्रजातंत्र के साथ राज्य रह सकते जीवित
जनजीवन विकास के नियमों से अनुशासित !"

पंतजी लोकसंघर्षों से राजा प्रजा दोनों की रक्षा करना चाहते हैं और दोनों को ही शोषक-शोषित का भेदभाव भूलकर जीवन-विकास के नियमों से अनुशासित होने का उपदेश देते हैं ।

पंतजी की संस्कृति, उनका अन्तर्मन, चेतना आदि राजनीति से परे नहीं हैं। पंतजी की भी राजनीति है, उनकी कविताओं में वह राजनीति बहुत स्पष्ट दिखाई देती है, भले ही वह राजनीति को अपूर्ण कह कर सांस्कृतिक दृष्टिकोण की दुहाई दें। यह राजनीति ऐसी अपरिचित भी नहीं है। कांग्रेसी नेताओं से सन् ४७ के पहले भी और सन् ४७ के बाद विशेष रूप से हम उसका महत्व-कीर्तन सुनते हैं। फिर पंतजी ने उसमें कौन सी नयी विशेषता पैदा कर दी है?

पंतजी की विशेषता यह है कि जब यह राजनीति जनता में तिरस्कृत हो रही थी, तब उसे सांस्कृतिक लिबास पहना कर, मार्क्सवाद के लोकपक्ष से भारतीय संस्कृति का समन्वय करने के नाम पर उन्होंने बुद्धिजीवियों के एक हिस्से को उस राजनीति के असर में रखा। पंतजी का ऐतिहासिक महत्व यह है कि पूँजीवादी राजनीति छोड़कर जब अधिकांश बुद्धिजीवी मजदूर वर्ग की साम्राज्य-विरोधी नीति की तरफ बढ़ रहे थे, तब पंतजी ने अपने को मार्क्सवाद का समर्थक कहकर, उसे "थोड़े से" परिवर्तन के बाद "भारतीय संस्कृति" से मिलाने की बात कहकर हिन्दी साहित्य पर उस पूँजीवादी राजनीति का असर क़ायम रखा। पंतजी ने यह काम "स्वर्ण किरण" और "स्वर्ण धूलि" में नया शुरू न किया था; यह काम वह पहले भी "युगान्त", "युगवाणी" आदि में कर चुके थे। लेकिन दूसरे यहायुद्ध के पहले जब कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डल बने थे, तब पूँजीवादी नेतृत्व ऐसे सङ्कट में न था, जैसे यह महायुद्ध के बाद और फिर मंत्रिमण्डल बनने पर हुआ। इसकी प्रतिध्वनि पंतजी की कृतियों में भी हुई। उनके समन्वय की रूप रेखा और भी स्पष्ट होकर सामने आई।

पंतजी के प्रगतिवादी प्रशंसकों की यह ऐतिहासिक भूमिका है कि जिस बात को हिन्दी साहित्य के आधार पर पाठक—"तितली", "गोदान", "देवी" और "चतुरी चमार" के पाठक—आसानी से प्रगतिशील न मानते, उसे एक हद तक इन्होंने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की दुहाई देकर उन्हें मनवा नहीं दिया तो कम से कम कुछ लोगों को भ्रम में जरूर डाल दिया। यह भी अनिवार्य था कि पंतजी के समन्वय की आलोचना जो सन् ४७ से पहले छुट-पुट या मुँदी-ढँकी थी, वह सन् '४७ के बाद और तीव्र होकर सामने आई और प्रगतिशील आलो-

चर्कों ही में पंतजी को लेकर दो मान्यताएँ चल पड़ीं। लेकिन अभी तक "स्वर्ण किरण" और "स्वर्ण धूलि" को प्रगतिशील रचनाएँ मानने वाले किसी आलोचक ने उनकी प्रगतिशीलता पर प्रकाश डालने का कष्ट नहीं किया, कारण यह कि उनकी प्रगतिशीलता पर प्रकाश डालने से खुद उसकी प्रगतिशीलता पर कम प्रकाश न पड़ेगा।

पंतजी इस समन्वयवाद के मसीहा हुए, इसका एक कारण है। छायावादी कवियों में पंतजी हिन्दी साहित्य के जातीय विकास से सबसे कम परिचित थे। निरालाजी ने "पल्लव" की आलोचना करते हुए पंतजी के उन उपकरणों पर यथेष्ट प्रकाश डाला था जिनसे पंतजी ने अपना काव्य-सौन्दर्य रचा था। पंतजी ने हिन्दी के पिछले साहित्य की तरफ "पल्लव" की भूमिका में एक नकारवादी दृष्टिकोण अपनाया था। उन्होंने रीतिकालीन कवियों पर जो आक्षेप किये थे, वे एक हद तक ठीक थे लेकिन भक्त कवियों के प्रति उनका दृष्टिकोण अन्यायपूर्ण था। उन्होंने लिखा था, "अधिकांश भक्त कवियों का सम्पूर्ण जीवन मथुरा से गोकुल ही जाने में समाप्त हो गया। बीच में उन्हीं की संकीर्णता की यमुना पड़ गई; कुछ किनारे पर रहे, कुछ उसी में बह गए। बड़े परिश्रम से कोई पार भी गए तो ब्रज से द्वारका तक तक पहुँच सके, संसार की सारी परिधि यहीं समाप्त हो गई।"

ब्रजभाषा काव्य पर पंतजी के आक्षेपों के सम्बन्ध में निरालाजी ने लिखा था, "जिनके संस्कार बहुत कुछ अँग्रेजी कविता के साँचे में ढल जाते हैं, उन्हें ब्रजभाषा की कविता पसन्द नहीं आती, यह बहुत ठीक है। परन्तु यह भी ठीक है कि पंतजी ने ब्रजभाषा पर अपनी उदासीनता के कारण जो कटाक्ष किया है, वह कुछ ही अंशों में सत्य है।"

कविता के अलावा ब्रजभाषा की तरफ पंतजी का दृष्टिकोण हिकारत से भरा हुआ था, "मुझे तो उस तीन-चारसौ वर्ष की वृद्धा के शब्द बिलकुल रक्त-मांस हीन लगते हैं; जैसे भारती की वीणा की झङ्कारें बीमार पड़ गई हों।" पंतजी की यह हिकारत ब्रजभाषा तक सीमित न रहकर हिन्दी भाषा (खड़ी बोली) तक जब तब पहुंच जाती है। जैसा कि विश्ववादियों के साथ अक्सर होता है, वे अपनों से नफरत करते हैं तो अँग्रेजी भाषा और संस्कृति के सामने दुम भी

हिलाते हैं। पंतजी कुछ हिन्दी अँग्रेजी शब्दों के ध्वनि सौन्दर्य की तुलना करते हुए "पल्लव" की भूमिका में लिखते हैं, "पंख शब्द में केवल फड़क ही मिलती है, उड़ान के लिये भारी लगता है; जैसे किसी ने पक्षी के पंखों में शीशे का टुकड़ा बाँध दिया हो, वह छटपटाकर बारबार नीचे गिर पड़ता हो; अँग्रेजी का (wing) जैसे उड़ान का जीता जागता चित्र है। उसी तरह 'touch' में जो छूने की कोमलता है, वह 'स्पर्श' में नहीं मिलती। 'स्पर्श' जैसे प्रेमिका के अङ्गों का अचानक स्पर्श पाकर हृदय में जो रोमांच हो उठता है, उसका चित्र है; ब्रजभाषा के परस में छूने की कोमलता अधिक विद्यमान है; 'joy' से जिस प्रकार मुँह भर जाता है, 'हर्ष' से उसी प्रकार आनन्द का विद्युत-स्फुरन प्रकट होता है।"

पंतजी के शब्द-विज्ञान पर निरालाजी ने यह टिप्पणी की थी, "पंतजी की व्याख्या से ज़ाहिर है, उनका झुकाव अँग्रेजी शब्दों के तत्सम रूपों की ओर अधिक है और यह प्रयत्न ऐसा है जैसे भारतवर्ष की आबोहवा को अँग्रेजी दवाओं के अनुकूल बनाना।"

पंतजी में जातीयता-विरोधी ये कॉस्मोपौलिटन संस्कार "पल्लव" काल ही में थे फिर भी वे अभी तक पूरी तरह पल्लवित न हुए थे। इसके सिवा स्पर्श और हर्ष से प्रेमिका के अङ्गों के स्पर्श और आनन्द के विद्युत्-स्फुरन की कल्पना वह किया करते थे। इसलिये "पल्लव" की रचनाओं में यथेष्ट सौन्दर्य मिलता है।

"ग्राम्या" से पंतजी ने जनता के प्रति बौद्धिक सहानुभूति का दृष्टिकोण अपनाया और अनेक सुन्दर रचनाएँ भी कीं। लेकिन "रूपाभ" में छायावाद के कल्पना-लोक से धरती पर उतरने की घोषणा करने के बाद पंतजी ने एक नये मसीहा का रोल भी अख्तियार किया। अब वह मार्क्सवाद और भारतीय संस्कृति का समन्वय करने लगे। इस समन्वय में मार्क्सवाद को उन्होंने क्रान्ति और वर्ग-सङ्घर्ष से ही मुक्त न किया था, उपनिवेशों में उसकी साम्राज्य-विरोधी सङ्घर्ष की भूमिका से भी मुक्त कर दिया था। और भारतीय संस्कृति

को उन्होंने हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा से ही मुक्त न किया था, बल्कि उसे भारतीय रूढ़िवाद और कांग्रेसी वर्ग-सहयोग की विशेष राजनीति से भी बाँध दिया था। पंतजी के इस समन्वय को प्रगतिशील कहना वर्ग-सहयोग की राजनीति और भारतीय रूढ़िवाद को ही प्रगतिशील कहना है।

(२)

१६३६ की एक कविता में पंतजी महात्मा गान्धी को लक्ष्य करके कहते हैं,
"निर्वाणोन्मुख आदर्शों के अन्तिम दीपशिखोदय।"
और—
"पूर्ण पुरुष, विकसित मानव तुम, जीवन सिद्ध अहिंसक।"

पंतजी के लिये भारतीय संस्कृति क्या है, इन दो पंक्तियों से अच्छी तरह मालूम होता है। जो निर्वाणोन्मुख आदर्शों का प्रतीक है, वही पूर्ण पुरुष और विकसित मानव भी है।

"आधुनिक कवि" की भूमिका में पंतजी कहते हैं, "ज्योत्स्ना तक मेरे सौन्दर्य बोध की भावना मेरे ऐन्द्रिक हृदय को प्रभावित करती रही है, मैं तब तक भावना ही से जगत् का परिचय प्राप्त करता रहा, उसके बाद मैं बुद्धि से भी संसार को समझने की चेष्टा करने लगा हूँ।"

शायद ! लेकिन ऊपर की पंक्तियों में निर्वाणोन्मुख आदर्शों में पूर्ण पुरुष का दर्शन यह साबित नहीं करता कि पंतजी को बुद्धि से संसार को समझने के नये काम में विशेष सफलता मिली है।

उसी भूमिका में पंतजी कहते हैं, "ऐतिहासिक भौतिकवाद और भारतीय अध्यात्म दर्शन में मुझे किसी प्रकार का विरोध नहीं जान पड़ा क्योंकि मैंने दोनों का लोकोत्तर कल्याणकारी सांस्कृतिक पक्ष ही ग्रहण किया है। मार्क्सवाद के अन्दर श्रम-जीवियों के संगठन, वर्गसंघर्ष आदि से सम्बन्ध रखने वाले बाह्य-दृश्य को, जिसका वास्तविक निर्णय आर्थिक और राजनीतिक क्रान्तियाँ ही कर सकती हैं, मैंने अपनी कल्पना का अंग नहीं बनने दिया है। इस दृष्टि से मानवता एवं सर्वभूतहित की जितनी विशद् भावना मुझे वेदान्त में मिली, उतनी ही ऐतिहासिक दर्शन में भी।"

दूसरे शब्दों में पंतजी ने ऐतिहासिक भौतिकवाद का अध्ययन वेदान्ती दृष्टि कोण से किया है। यह कहना कठिन है कि जिस तरह उन्होंने संसार को बुद्धि से समझने की कोशिश की है, उसी तरह ऐतिहासिक भौतिकवाद और वेदान्त को भी बुद्धि से समझने की कोशिश की है या नहीं।

भारतीय दर्शन की विशेषता बतलाते हुए पन्तजी लिखते हैं, "भारतीय तत्वद्रष्टा, शायद अपने सूक्ष्म नाड़ी मनोविज्ञान (योग) के कारण सापेक्षता के उस पार सफलता पूर्वक पहुंचकर 'तदंतरस्य सर्वस्य तत्सर्वस्यास्य वाह्यतः' सत्य की प्रतिष्ठा कर सके हैं।"

इसलिये भारतीय तत्वद्रष्टाओं ने जहाँ सूक्ष्म नाड़ी-विज्ञान से काम न लेकर प्रत्यक्ष व्यवहार से संसार को समझने की कोशिश की है, वहाँ वे तत्वद्रष्टा नहीं रह गये, वहाँ उनका दर्शन दर्शन नहीं रहा! इसलिये पन्तजी के लिये भारतीय दर्शन की उस विचारधारा का कोई ऐतिहासिक महत्त्व नहीं रहता जो इस सूक्ष्म नाड़ी मनोविज्ञान (योग) का विरोध करती रही है। संस्कृति की इतनी रट लगाने के बाद पन्तजी प्राचीन दर्शन के प्रगतिशील तत्त्वों को आसानी से छाँट कर फेंक देते हैं। भक्त कवियों के प्रति उनकी जो धारणा रही है, उसे हम ऊपर देख चुके हैं। छायावाद का भी महत्त्व उनकी नजर में किस कारण रहा है, यह भी देख लीजिये। "आधुनिक कवि" की भूमिका में वह कहते हैं, "द्विवेदी युग के काव्य की तुलना में छायावाद इसीलिए आधुनिक था कि उसके सौन्दर्य-बोध और कल्पना में पाश्चात्य साहित्य का पर्याप्त प्रभाव पड़ गया था और उसका भाव शरीर द्विवेदी युग की काव्य परम्परा से पृथक् हो गया था।"

साहित्य की परंपरा की तरफ पंतजी का दृष्टिकोण जातीयता का बहिष्कार करके चलता है। वह एक तरफ तो निर्वाणोन्मुख आदर्शों को पूजने के कारण रूढ़िवादी है, दूसरी तरफ संस्कृति के प्रगतिशील तत्त्वों को अस्वीकार करके अंग्रेजी भक्त होने के कारण कॉस्मोपॉलिटन है। इस दृष्टिकोण से भारतीय संस्कृति की न तो रक्षा होती है, न उससे उसका विकास संभव है। रक्षा तभी संभव है जब हमारे सामने यह स्पष्ट हो कि रक्षा किससे करनी है। हमें भारतीय संस्कृति के प्रगतिशील तत्त्वों की रक्षा करनी है, भारतीय रूढिवाद से और

पश्चिम की पतित पूँजीवादी संस्कृति के प्रभाव से। उसका विकास हम कर सकते हैं, जनता के हितों को अपनी कसौटी बना कर, सत्य को व्यवहार द्वारा परखने की वैज्ञानिक प्रणाली अपनाकर।

पन्त जी का दृष्टिकोण जनसाधारण को यह श्रेय नहीं देता कि उसने भी रक्षा के योग्य कोई सांस्कृतिक तत्त्व रचे हैं। भारत के साधारण जन उनके लिये "मूढ़, असभ्य, अशिक्षित निर्धन" हैं। अशिक्षित और निर्धन अवश्य लेकिन मूढ़ और असभ्य नहीं। इस तरह के विशेषणों का प्रयोग साम्राज्यवादी करते रहे हैं, न कि देशभक्त कवि। पन्त जी का कॉस्मोपॉलिटन दृष्टिकोण जहाँ छायावाद को अंग्रेजी साहित्य से प्रभावित होने के कारण गौरवशाली मानता है, वहाँ जनता को अंग्रेजों की तरह मूढ़ और असभ्य मानता है। तब अगर अंग्रेज कहें कि हम असभ्य भारतवासियों को सभ्यता का पाठ पढ़ाने आये हैं तो उसमें बेजा क्या है?

"ग्राम्या" की भूमिका में पन्तजी ने ग्रामीणों को अपनी बौद्धिक सहानुभूति ही क्यों दी है, इसकी व्याख्या उन्होंने "आधुनिक कवि" की भूमिकामें दी है। वह व्याख्या यह है कि "मैंने ग्राम जनता को रक्त मांस के जीवों के रूप में नहीं देखा है। एक मरणोन्मुखी संस्कृति के अवयव स्वरूप देखा है, और ग्रामों को सामंत युग के खंडहर के रूप में। ....यदि मुझे सामंत युग की संस्कृति के पुनर्जागरण पर विश्वास होता तो जनता के संस्कारों के प्रति मेरी हार्दिक सहानुभूति भी होती। ....जहाँ आलोचनात्मक दृष्टि की आवश्यकता है वहाँ केवल भावुकता और सहानूभूति से कैसे काम चल सकता है?"

बौद्धिक सहानुभूति तक सीमित रहने के पक्ष में पन्तजी ने जो दलील दी है, उसका आविष्कार करने में उन्होंने निश्चय ही बुद्धि पर काफी जोर दिया है। प्रश्न यह है कि उनकी बौद्धिक सहानुभूति किस की तरफ है। क्या मरणोन्मुखी संस्कृति की तरफ? सामंत युग की संस्कृति की तरफ? अगर नहीं तो वह कौन सी वस्तु है जिसे पन्तजी बौद्धिक सहानुभूति तो दे सकते हैं लेकिन जिसे हार्दिक सहानुभूति देना भावुकता हो जाता है? अगर ग्रामीणों के प्रति बौद्धिक सहानुभूति रखना सामन्ती संस्कृति से बौद्धिक सहानुभूति रखना नहीं है तो वे बेचारे ग्रामीण ही बौद्धिक सहानुभूति से क्यों वंचित रह जाते हैं?

उल्टा ग्रामीणों से उन्हें जितनी ही सहानुभूति होगी, उतना ही वे उन्हें सामंती संस्कृति के प्रभाव से मुक्त करने के लिये सङ्घर्ष करेंगे। लेकिन पन्तजी की पूर्ण सहानुभूति बौद्धिक और हार्दिक सूक्ष्म नाड़ी मनोविज्ञान के साथ है, निवार्णोन्मुख आदर्शों के प्रतीक के साथ है; फिर ग्रामीणों के साथ, विशेष कर उन ग्रामीणों के साथ जो निरक्षरता और निर्धनता में पड़े रहने से इन्कार करते हैं, उनकी सहानुभूति कैसे रह सकती है?

फिर जिस दृष्टिकोण से पन्तजी को ग्रामीण जन मरणोन्मुखी संस्कृति के अवयव रूप ही दिखाई देते हैं, रक्त मांस के जीव नहीं, उस दृष्टिकोण की बौद्धिकता की दुहाई है। जैसे पीलिया के रोगी को सब कुछ पीत और रक्तहीन ही दिखाई देता है, वैसे ही रूढ़िवाद के उपासक कवि पंत को ग्राम जनता रक्त मांस हीन मृत संस्कृति का अवयव मात्र दिखाई देती है। यदि पन्तजी ने इस रक्त मांस हीन संस्कृति को जरा नजदीक से देखा होता, उसके बिरहे, कहरवा, कजली, होली आदि लोकगीतों को सुना होता, निराला की शूर्पनखा की तरह "डाल अवज्ञा की दृष्टि" के बदले जनगीतों और लोक कथाओं में भारतीय संस्कृति का अजेय आशा-स्वर सुना होता तो उनकी कविता संस्कृत शब्दों के निरर्थक प्रयोग से इतनी बोझिल न होती, अपनी "बौद्धिक सहानुभूति" (या सहानुभूति के अभाव) का समर्थन करने के लिये बुद्धि पर इतना जोर न देना पड़ता। लेकिन जन-संस्कृति का निरादर उसी कॉस्मोपॉलिटन दृष्टिकोण की विशेषता है जो भारतीय दर्शन, भक्तिकाल और छायावाद की प्रगतिशील विरासत को अपनाने से इन्कार करता है।

"आधुनिक कवि" की भूमिका में पंतजी ने ठीक लिखा है कि "प्राचीन प्रचलित विचार और जीर्ण आदर्श समय के प्रवाह में अपनी उपयोगिता के साथ अपना सौन्दर्य सङ्गीत भी खो बैठते हैं, उन्हें सजाने की जरूरत पड़ती है।" विशेष कर भारत का सूक्ष्म नाड़ी मनोविज्ञान अपनी उपयोगिता और सौन्दर्य कभी का खो चुका है। उसे सजाने के लिये तो विशेष अलंकारों की आवश्यकता पड़ती है। उन अलंकारों का यथेष्ठ चमत्कार "स्वर्ण किरण" "स्वर्ण धूलि," "उत्तरा", "रजत शिखर" आदि में देखने को मिलता है। पन्तजी ने दार्शनिक सत्य का उद्घाटन करने के लिये नये प्रतीक चुने हैं जैसे

कौआ, उल्लू और चमगादड़। "कौवे के प्रति" कविता में वह उस सुन्दर पक्षी को "भविष्य वक्ता जगविश्रुत" कहते हैं और इनके साथ "मन्त्री वृद्ध तुम्हारे कौशिक दिवाभीत चमगादर"। उनके काव्य की चित्रमयता "अर्ध विवृत जघनों पर" सिर रखने, "वक्षोजों के खुले घटों पर" हाथ रखने, "चिर अधखुले उरोजों पर" उडुगण के जलने, जघनों के माणिक सर में स्वर्णवाष्पका घन लटकने आदि में प्रकट हुई है। "रजत शिखर" में स्वर्ण भृङ्गों ने और भी उन्नति की है, "कुसुम योनियाँ चूम गंध रज, गर्भ दान दे।" अवश्य ही इन भृंगों को हम किसी का प्रतीक न कहेंगे।

प्राचीन प्रचलित विचार और जीर्ण आदर्श जब अपनी उपयोगिता और सौंदर्य भी खो बैठते हैं, तब उन्हें सजाने की जरूरत पड़ती है। यही नहीं, जो नये विचार और प्राणवान आदर्श उनका मुकाबला करते हैं, उन्हें अनुपयोगी और असुन्दर कह कर कोसने की ज़रूरत भी पड़ती है। "उत्तरा" की भूमिका में पन्तजी भौतिकवाद को अंधकारमय बतलाते हुए कहते हैं, "और विशेषकर मार्क्सवादी भौतिकता के अंधकार में और कुछ भी न सूझने के कारण (मन) गुण तथा संस्कृति (सामूहिक अन्तर्चेतना) आदि को पदार्थ का विंब रूप, गौण स्तर या ऊपरी अतिविधान कह कर उड़ा देना चाहते हैं।"

प्राचीन अध्यात्मवादियों और यांत्रिक भौतिकवादियों की तरह पंतजी के लिये मनुष्य की चेतना वस्तु जगत का अङ्ग न होकर उससे भिन्न और निरपेक्ष सत्ता है। इसलिये मनुष्य का दिमाग़—ऐसा पदार्थ जिसमें सोचने का गुण भी हो—उनकी कल्पना से परे है। मार्क्सवाद चेतना को अस्वीकार नहीं करता लेकिन उसे वस्तुजगत् से निरपेक्ष नहीं मानता। पन्तजी के लिये मनुष्य के विचार उसके मन में बाह्य जगत् का प्रतिविंब नहीं है वरन् उनकी स्वतंत्र सत्ता है। इसलिए सापेक्षता के साथ बँधा हुआ मनुष्य का ज्ञान जो निरपेक्ष सत्य को पाता हुआ उसे पूरी तरह नहीं समेट लेता कि सत्य का अन्त हो जाय, यह मानव ज्ञान की द्वंद्वात्मक प्रगति पंतजी को पसन्द नहीं है। वह अध्यात्मवाद की महत्ता इस बात में मानते हैं कि वह मनुष्य को एकवारगी पूर्ण सत्य के दर्शन करा देता है। उनके लिये मनुष्य की चेतना विकासमान नहीं है, वह पूर्ण और गतिहीन है, सिर्फ माया का भ्रम दूर करके उसे पहचानना भर बाकी

है। "कला तथा संस्कृति नामक" निबन्ध में वह कहते हैं, "आप क्षणभंगुर के अवगुंठन को हटा कर मानव-चेतना के शाश्वत मुख के भी दर्शन कीजिये।" वही पुरानी बात लेकिन कितने तूल-तबील के बाद।

इस शाश्वत मुख को देखने के बाद पंतजी को वैज्ञानिक भौतिकवाद के जन्मदाता मार्क्स और एंगेल्स विशेष रूप से क्षुद्र मालूम होते हैं। "उत्तरा" की भूमिका में रागद्वेष से परे रहने वाले शाश्वत सत्यवादी पंतजी कहते हैं, "सहस्रों वर्षों से अध्यात्म दर्शन की सूक्ष्म-सूक्ष्मतम झंकारों से रहस मौन निनादित भारत के एकान्त मनोगगन में मार्क्स तथा एंगिल्स के विचार-दर्शन की गूंजें बौद्धिकता के शुभ्र अंधकार के भीतर से रेंगने वाले झींगुरों की रुधी हुई झनकारों से अधिक स्पंदन नहीं पैदा करतीं।"

पंतजी का कोप मार्क्स और एंगेल्स के दर्शन की सत्यता ही प्रमाणित करता है। साम्राज्यवाद के सङ्कट-काल में संस्कृति के पूँजीवादी नेता पैरों के नीचे से धरती खिसकते देखकर आपे से बाहर हो जाते हैं। उनकी यह दयनीय वस्तुगत परिस्थिति उनके मन में प्रतिबिंबित होती है। वे मार्क्स और एंगेल्स की तुलना झींगुरों से करने लगते हैं। पंतजी के ये विचार किसी शाश्वत चेतना का परिणाम न होकर उनके भौतिक जीवन का ही प्रत्यक्ष परिणाम हैं।

पन्तजी ने जब "ज्योत्स्ना" नाटिका लिखी थी तब उसके अभिनय की बात चलने पर एक कठिनाई आई थी कि झींगुर और उल्लू के पार्ट किसे दिये जायँ। पंतजी के एक सुहृद् कवि ने यह कह कर इस समस्या को हल किया था कि "ज्योत्स्ना" के प्रकाशक और लेखक इन पार्टों को आपस में बाँट लें। वह बात कितनी सार्थक थी, यह "उत्तरा" की भूमिका पढ़ने पर अच्छी तरह मालूम हो जाता है।

पंतजी की संस्कृति शाश्वत और अपरिवर्तनशील है। उनके लिये राजनीतिक विचार संस्कृति का अङ्ग नहीं हैं बल्कि उससे भिन्न हैं। पन्त जी यह देख कर अप्रसन्न होते हैं कि उनके कुछ आलोचक "अपने सांस्कृतिक विश्वासों में मार्क्सवादी ही नहीं अपने राजनीतिक विचारों में कम्यूनिस्ट भी हैं।" कोई मार्क्सवादी कम्यूनिस्ट भी हो, इससे ज्यादा आश्चर्य की बात और क्या हो सकती है?

पंतजी के लिये वस्तुवाद की कमी इस बात में है, "तथोक्त वस्तुवाद कर्ता या कर्मी का दृष्टिकोण है जिसके लिये गोचर वस्तु ही यथार्थ तथा प्रधान है, आदर्श उसी का विकास या परिणति।" वस्तुवाद के लिये गोचर वस्तु प्रधान है लेकिन कर्ता या कर्मी उसके लिये अगोचर कब है ? इसलिए आदर्श भी अगोचर न होकर इसी यथार्थ जगत् में प्रतिफलित होता है।

पंतजी आगे कहते हैं, "वस्तु से उसका विधायक या निर्माता का सम्बन्ध होने के कारण वह उसकी यथार्थता को अपनी दृष्टि से ओझल नहीं होने देता एवं उसी को सत्य मानता है।" मानों खुद अपने को अवास्तविक, असत्य मानता हो।

अगोचर सत्य की व्याख्या करते हुए पंतजी कहते हैं, "किंतु यदि हम आदर्श तथा वस्तु को एक ही सत्य का, जो अव्यक्त तथा विकासशील होने के कारण दोनों से अतिशय तथा ऊपर भी है,—सूक्ष्म स्थूल रूप या बिंब प्रति-बिंब मान लें तो दोनों दृष्टिकोणों में सहज ही सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है।"

पंतजी का सत्य अव्यक्त है तो विकासशील कैसे है ? या उसका विकास अप्रकट ही रहता है ? यदि वह शाश्वत और पूर्ण है तो भी उसके विकासशील होने की संभावना नहीं है। विकास केवल मनुष्य के भ्रम दूर होने में हो सकता है। यदि वह सत्य सूक्ष्म और अगोचर है तो वह किस में प्रतिबिंबित होता है और किसी वस्तु का प्रतिबिंबित होना उसकी गोचरता का लक्षण है या अगोचरता का ?

लेकिन पंतजी की चेतना एक दम अभौतिक नहीं है। उसके कई स्तर हैं जिनमें "पदार्थ विज्ञान द्वारा हमने केवल चेतना के निम्नतम भौतिक धरातल पर ही प्रकाश डाला है" लेकिन "परिस्थितियों की सक्रियता के अनुपात में हमारे मन तथा चेतना के सापेक्ष स्तर प्रबुद्ध तथा अंतःसङ्गठित न हो सकने के कारण" युद्ध आदि हुए। आश्चर्य है कि सापेक्ष ज्ञान को चुनौती देने वाली पंतजी की चेतना के भी सापेक्ष स्तर हैं। पंतजी के लिये मन भी एक नहीं, दस बीस हैं। ऊधो से "मन न भये दस बीस" की शिकायत करने वाली गोपियों की समस्या पंतजी ने हल करदी है। "एकता का सिद्धांत अन्तर्मन का सिद्धांत

है विविधता का सिद्धान्त बहिर्मन तथा जीवन के स्तर का।"

प्रश्न यह है कि यह बहिर्मन जीवन के स्तर पर है तो क्या अन्तर्मन कहीं मृत्यु के स्तर पर विद्यमान है? एकता और विविधता का ऐसा विभाजन क्या संसार में दिखाई देता है? विविध शब्दों से एक कविता, विविध कविताओं से एक साहित्य, विविध साहित्यों से एक विश्व साहित्य आदि की द्वन्द्वात्मक एकता क्या प्रत्यक्ष जीवन में प्रमाणित नहीं होती? पंतजी की तर्क प्रणाली क्या पुराने मेटाफिजिकल ढङ्ग की नहीं है?"

पंतजी लिखते हैं, "हमारी गौतम और गाँधीजी की ऐतिहासिक भूमि है। भारत का दान विश्व को राजनीतिक तन्त्र या वैज्ञानिक यन्त्र का दान नहीं हो सकता, वह संस्कृति तथा विकसित मनोयंत्र की ही भेंट होगी।

विकसित मनोयन्त्र? फिर विकास की बात और वह भी मन को यंत्र मान कर? पंतजी भारतीय रूढ़िवादी ही नहीं हैं, यांत्रिक भौतिकवादी भी हैं। इस विकसित मनोयंत्र का दूसरा नाम अहिंसा है, "अहिंसा मानवीय सत्य का ही सक्रिय गुण है। अहिंसात्मक होना व्यापक अर्थ में संस्कृत होना, मानव बनना है।"

यह मानवीय सत्य शाश्वत है या परिवर्तनशील और विकासमान? सक्रियता देशकाल-सापेक्ष है या देशकाल से परे अनादि, अनन्त और अगोचर? पंतजी ने अध्यात्मवाद का गुण कीर्तन करने के बाद सम तोड़ा सत्य के सक्रिय गुण पर। यदि यह अहिंसा गुणातीत नहीं है तो उसे प्रत्यक्ष जीवन में चरितार्थ होना चाहिये। अहिंसा के गुण को कौन लाठी-गोली से खण्डित करता है? पन्तजी को अहिंसा के लिये भय शासक वर्ग से नहीं दिखाई देता; अहिंसा का नाश होता उनसे दिखाई देता है जो हिंसा बर्दाश्त करने के लिये तैयार नहीं हैं।

इस तरह पंतजी की संस्कृति राजनीति से परे न होकर एक विशेष तरह की राजनीति का ही दूसरा नाम है। यह राजनीति शासकवर्ग की हिंसा पर पर्दा डालती है, पीड़ित जनता के विरोध को हिंसा कह कर उसे विरोध करने से रोकती है। पंतजी की संस्कृति का कार्यालय हिन्दुस्तान ही में है। वह चाहते हैं कि "भारत एक नवीन मनुष्यत्व के आदर्श में बँधकर, तथा अपने बहिरंतर

जीवन को नवीन चेतना के सौन्दर्य में सङ्गठित कर महासृजन एवं विश्व निर्माण का एक विराट् कार्यालय बन जाय।"

महासृजन का विराट् कार्यालय जिसमें करोड़ों मनुष्य आधे पेट रहकर नित्य तपस्या करते हैं और अकाल मृत्यु के ग्रास बन कर निर्वाणपद को प्राप्त करते हैं, यह भारत साम्राज्यवाद का विराट् मृत्यु कार्यालय भी है जिसमें असंख्य नरनारी तिलतिलकर घुलते हुए प्राण दे चुके हैं। अब वे अपना सामाजिक-जीवन नये ढङ्ग से सङ्गठित करना चाहते हैं तो पंतजी अंतर्मन के सङ्गठन को प्रधान और संस्कृति को जीवन-सङ्घर्ष से परे कहने लगते हैं। लिखा है, "संस्कृति सौन्दर्य-बोध आदि हमारे अन्तर्मन के सङ्गठन हैं। संस्कृति को मात्र वर्गवाद की दृष्टि से देखना एवं बाह्य परिस्थितियों पर अवलम्बित अतिविधान मानना केवल वाद-ग्रस्त बुद्धि का दुराग्रह है।"

जैसा कि हम देख चुके हैं, पंतजी की संस्कृति न तो वर्गों से परे है, न परिस्थितियों से। वह कोई आग्रहहीन वाद नहीं है, केवल आग्रह सर्वहारा वर्ग का न होकर पूँजीवादी वर्ग का है। मानो मार्क्सवाद यह कहता हो कि परिस्थितियों को बदलो और अपने को न बदलो, पंतजी तर्क करते हैं, "ऐसा नहीं समझना चाहिये कि स्थूल के सङ्गठन से सूक्ष्म अपने आप सङ्गठित हो जायगा जैसा कि आज का भौतिक दर्शन या मार्क्सवाद कहता है।"

स्थूल का सङ्गठन कौन करेगा? या वह अपने आप सङ्गठित हो जायगा? मनुष्य अपने जीवन की परिस्थितियों को बदलता हुआ अपने को भी बदलता है। एक को बदल कर दूसरे को छोड़ देना पंतजी का तर्क है, मार्क्सवाद का नहीं। स्थूल को बदलने के लिये स्थूल जगत में सङ्घर्ष होता है; सूक्ष्म को बदलने के लिये विचारधारा में सङ्घर्ष होता है। पंतजी इस सङ्घर्ष में किसके साथ हैं?

पंतजी अपने सत्य को सङ्घर्ष से ऊपर रखना चाहते हैं। वह पक्षपात से परे रहने का आदेश देते हुए कहते हैं, " आप क्षणभंगुर के अवगुंठन को हटाकर मानव चेतना के शाश्वत मुख के भी दर्शन कीजिये। तब आप वास्तविक अर्थ में जीवन-द्रष्टा तथा सौन्दर्य-स्रष्टा बन सकेंगे। अन्यथा आप व्यक्ति-समाज के बीच, भिन्न-भिन्न वर्गों, गिरोहों के बीच, भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों, शक्ति-लोलुप

सङ्गठनों तथा नैतिक दृष्टिकोणों के बीच चलने वाले सङ्घर्ष के प्रचारक मात्र बन जायँगे; और अपने स्वभाव, रुचि तथा परिस्थितियों के अनुरूप एक या दूसरे पक्ष का समर्थन कर अपने स्रष्टा के कर्तव्य से च्युत हो जाएँगे।"

पंतजी का वास्तविक अर्थ जीवनसंघर्ष से परे रहना है। वह वर्गों और नैतिक दृष्टिकोणों से ऊपर उठ कर सौन्दर्य देखने का आग्रह करते हैं। लेकिन यह तटस्थता का सिद्धान्त खुद एक वर्ग का सिद्धान्त है। यह वर्ग अपने जन-विरोधी हितों को ढँकने के लिये तटस्थता का अभिनय करता है। पंतजी नैतिक दृष्टिकोणों के संघर्ष से तटस्थ नहीं हैं बल्कि सर्वहारा वर्ग के नैतिक दृष्टिकोण का विरोध करके पूँजीवादी दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं। उनका यह भय अकारण नहीं है कि लोग उनके समन्यवाद को प्रगतिशील मानने से इन्कार करते हैं। अपने दृष्टिकोण की सफाई देते हुए पंतजी कहते हैं, "मेरा मन यह नहीं स्वीकार करता कि मैंने अपनी रचनाओं में, जिस सांस्कृतिक चेतना को वाणी दी है, एवं जिस मनः संगठन की ओर ध्यान आकृष्ट किया है, उसे किसी भी दृष्टि से प्रतिगामी कहा जा सकता है।"

दूसरे महायुद्ध के पहले जब काँग्रेसी मन्त्रि-मण्डल बने थे, तब से "उत्तरा" के लिखने तक जनता की चेतना और उसके साथ हिन्दी जनता की चेतना में काफी परिवर्तन हो गया है। अन्तर्चेतनावादी पंतजी से सामाजिक चेतना के ये परिवर्तन छिपे नहीं हैं। लेकिन वे इस नयी सामाजिक चेतना से सहानुभूति नहीं रखते—न बौद्धिक न, हार्दिक। वह अपने पुराने समन्वयवाद को नया जामा पहना कर फिर हिन्दी पाठकों से कहते हैं—मैं प्रतिगामी नहीं हूँ। लेकिन मार्क्सवाद का कौन-सा विरोधी अपने को प्रतिगामी मानता है? उनका व्यवहार उनकी प्रतिगामिता प्रकट कर देता है। पंतजी यदि अपने अन्तर्चेतनावाद से लोगों को बहलाना चाहते हैं तो कुछ दिन कोशिश करके और देखलें।

———

साहित्य और यथार्थ

(१)

अपनी कविता पुस्तक "क्वासि" की भूमिका में श्री बालकृष्ण शर्मा नवीन ने एक विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिखकर मार्क्सवाद को जड़वादी दर्शन साबित किया है और क्वासि की टेर को भारतीय संस्कृति की मर्मवाणी बतलाया है। लेकिन उनकी आलोचना एकाङ्गी नहीं है। वह शत्रु के साथ भी न्याय करने में विश्वास करते हैं। इसलिये फायरबाख पर मार्क्स का पहला सूत्र उद्धृत करके वह गद्गद् कंठ से कहते हैं, "मैं जब फ्योरबाख सम्बन्धी, ऋषि मार्क्स के ये सूत्र पढ़ता हूँ तो उनकी स्मृति में मेरा मस्तक झुक जाता है। कितनी प्रखर मेधा। कितना महान् उनका स्पष्ट दर्शन सामर्थ्य !! कितनी गहर गंभीर मौलिकता !!!"

आजकल ऐसे ईमानदार भौतिकवाद-विरोधी कम मिलते हैं जो मार्क्स की स्मृति में श्रद्धा से अपना सिर इतना नीचे झुका दें। इसलिये नवीन जी के श्रद्धानत शीश के समाने हमारा सिर और भी नीचे अपने आप झुक जाता है।

नवीन जी ने मार्क्सवाद में क्या पाया है जिससे उनका सिर यों झुक गया है?

उनके अनुसार मार्क्स ने पदार्थवादी दर्शन के लिये यह कर्तव्य निश्चित किया है कि "वह प्रत्येक दिशा में मानवजीवन को शुभ की ओर परिवर्तित करने की प्रेरणा करता रहे।"

अगर परिवर्तित करने का मतलब यहाँ पर परिवर्तित करने, बदलने का है तो मानना होगा कि मानव जीवन कोई अखण्ड अपरिवर्तनशील इकाई नहीं है वरन् देशकाल में स्थित एक ऐतिहासक क्रम है जिसमें विकास और परिवर्तन होता रहता हैं। लेकिन अगर मानव का अर्थ परमात्मा का अंश हो, तो मानव जीवन के परिवर्तित होने का मतलब बदलना न होकर—एक ऐतिहासिक क्रम न होकर—परमात्मा के दर्शन करना, आत्मरूप को पहचानना आदि ही

संसार को बदलने के लिये यह ज़रूरी है कि हम उसे जानें। लेकिन यह जानने का काम संसार से अलग शुद्ध चेतना की क्रिया है या ख़ुद भी एक सांसारिक, वस्तुगत क्रिया है? मार्क्स का कहना है कि संसार की वे तमाम वस्तुएँ ही यथार्थ नहीं हैं जिन्हें हम इन्द्रियों से जानते पहचानते हैं; यह जानने पहचानने का काम भी उस यथार्थ में शामिल है। इसलिए ज्ञान—जानना—एक वस्तुगत क्रिया है, बाह्य जगत् से अभिन्न। फायरबाख की आलोचना करते हुए मार्क्स ने उसी पहले सूत्र में साफ़ लिखा है, "he does not understand human activity itself as, objective activity." ("उसके लिये ख़ुद मानव-कर्म अपने में वस्तुगत कर्म नहीं है")।

इसका नतीजा यह होता है कि फायरबाख मनुष्य के चिंतन को उसके कर्म से अलग कर देता है, ज्ञान को श्रेष्ठ और कर्म को दास मान बैठता है। "He therefore does not comprehend the significance of 'revolutionary', of 'practical-critical' activity" ("इसलिये वह 'क्रान्तिकारी', 'अमली-आलोचनात्मक' कार्यवाही का महत्व नहीं समझता")।

मार्क्स ने फायरबाख की जो आलोचना की है, उसका निचोड़ यह है कि वह क्रान्तिकारी कार्यवाही के महत्व से इन्कार करता है।

नवीनजी ने एक दूसरे कारण से मार्क्स द्वारा की हुई फायरबाख की आलोचना की तारीफ़ की है। वह कहते हैं, "मार्क्स की दृष्टि में दर्शन का काम सामाजिक चेतना को जागृत, प्रभावित और चालित करना है। अतः इतना कह देना-भर ही अलम् नहीं है कि इन्द्रिय-ग्राह्य बहिर्जगत् के अतिरिक्त जो कुछ है वह अयथार्थ (Unreality) है।"

मतलब साफ़ है। नवीनजी के अनुसार मार्क्स के लिये यथार्थ इन्द्रियग्राह्य बहिर्जगत् के "अतिरिक्त" भी है। लेकिन मार्क्स ने फायरबाख में इस "अतिरिक्त" ही की आलोचना की है। फायरबाख और उसके पहले के भौतिकवादी इन्द्रियग्राह्य बाह्यजगत् को तो यथार्थ मानते थे लेकिन मानव के इन्द्रियबोध को, उसके कर्म को यथार्थ से अलग कर देते थे।

मार्क्स के वाक्य का जो अनुवाद नवीनजी ने किया है, उस से भी यह बात

साफ़ हो जाती है। फायरबाख और उससे पहले के भौतिकवाद की न्यूनता क्या है? न्यूनता यह है कि उसने यथार्थ को "सेन्द्रिय मानवीयक्रिया के रूप में हृदयङ्गम नहीं किया", उसे "व्यावहारिकता के रूप में स्वीकृत नहीं किया।"

इसलिये इन्द्रियग्राह्य बहिर्जगत् के "अतिरिक्त" किसी यथार्थ का सवाल नहीं उठता। सवाल है, जिसे हम यथार्थके "अतिरिक्त" हमझते हैं, उसे यथार्थ का ही अङ्ग समझने का। इसलिये कर्म के बिना यथार्थ नहीं बदलता; कर्म के बिना मनुष्य—जो यथार्थ से "अतिरिक्त" नहीं है—वह भी नहीं बदलता।

मनुष्य के चिन्तन को उसकी क्रियाओं से अलग शुद्ध चेतन रूप में देखना आदर्शवादियों का परिचित सिद्धान्त है। इसी के लिये मार्क्स ने फायरबाख की आलोचना की थी। नवीनजी मार्क्स पर वह आदर्शवादी सिद्धान्त—इन्द्रिय-ग्राह्य बहिर्जगत् के "अतिरिक्त" यथार्थ को स्वीकार करने का सिद्धान्त—आरोपित करके उसकी "प्रखर प्रतिभा, गंभीर विचार-शक्ति एवं गहन मौलिकता" की प्रशंसा करते नहीं अघाते। लेकिन मार्क्स में इन्द्रिग्राह्य बहिर्जगत के "अतिरिक्त" एक और यथार्थ ढूंढ निकालने के लिये हमें नवीनजी की ही प्रखर प्रतिभा की दाद देनी होगी, उन्हीं की गम्भीर विचार-शक्ति एवं गहन-मौलिकता को साधुवाद देना होगा। मार्क्स उस सब का अधिकारी अभी साबित नहीं होता।

नवीनजी ने अपनी व्याख्या को सरल बनाने के लिये फायरबाख पर मार्क्स के पहले सूत्र का एक ही वाक्य उद्धृत किया है। लेकिन उस सूत्र में चार वाक्य और हैं, जिनमें मार्क्स ने फायरबाख और तब तक के भौतिकवाद की कमजोरी को स्पष्ट कर दिया है और अपने सूत्र को क्रान्तिकारी, अमली कार्यवाही पर ज़ोर देते हुए समाप्त किया है। नवीनजी को शायद मनुष्य की अमली क्रान्ति-कारी कार्यवाही से दिलचस्पी नहीं है। शायद चारों वाक्य उद्धृत करने से मार्क्स का वह "कितना अद्भुत, कितना भव्य निष्कर्ष" न निकलता जो उन्होंने निकाला है। भला अमली कार्यवाही से "स्पष्ट दर्शन सामर्थ्य" और "गहर गम्भीर मौलिकता" का क्या सम्बन्ध?

मार्क्स फायरबाख पर अपने दूसरे सूत्र में कहते हैं: "The question

whether objective truth is an attribute of human thought—is not a theoretical but a practical question. Man must prove the truth, i. e. the reality and power, the 'this sidedness' of his thinking in practice. The dispute over the reality or non-reality of thinking that is isolated from practice is a purely scholastic question." ("यह सवाल कि वस्तुगत सत्य मनुष्य के चिन्तन का एक लक्षण है—सैद्धान्तिक सवाल न हो कर एक अमली सवाल है। मनुष्य को सचाई अर्थात् अपने चिन्तन की वास्तविकता और शक्ति, उसकी "इह लौकिकता" अमल से साबित करनी चाहिये। अमल से अलग करके चिन्तन की वास्तविकता या अवास्तविकता पर झगड़ा करना शुद्ध शास्त्रींवाला झगड़ा है।"

नवीनजी ने अपनी विद्वत्तापूर्ण भूमिका में मार्क्स की इस चुनौती को कहीं भी स्वीकार नहीं किया। अमल, कर्म, क्रान्तिकारी कार्यवाही की बात उनके लिये दर्शन से "अतिरिक्त" समस्या है। उनके उद्धृत किये हुए वाक्य में भी जहाँ यथार्थ के लिये कहा गया है कि उसे "व्यावहारिकता के रूप में स्वीकार नहीं किया गया", वहाँ भी व्यावहारिकता पर उनकी निगाह नहीं ठहरती मानो यह व्यावहारिकता कोई डायन हो जो हमारे कवि को टोना मार देगी।

फायरबाख़ पर अपने तीसरे सूत्र में मार्क्स ने तब तक के भौतिकवाद की आलोचना करते हुए फिर कहा—

"The materialist doctrine concerning the changing of circumstances and education forgets that circumstances are changed by men and that the educator himself must be educated. This doctrine has therefore to divide society into two parts, one of which is superior to society.

"The coincidence of the changing of circumstances and of human activity or self-changing can

only be comprehended and rationally understood as revolutionary practice." ("परिस्थितियों को बदलने का और शिक्षा का भौतिकवादी सिद्धान्त यह भुला देता है कि परिस्थितियाँ इंसानों द्वारा बदली जाती हैं और शिक्षक को खुद शिक्षित होना पड़ेगा। इसलिये यह सिद्धान्त मजबूरन समाज के दो हिस्से कर देता है, जिनमें से एक समाज से बढ़कर होता है।

"परिस्थिति परिवर्तन और मानव-कर्म या आत्म-परिवर्तन की अभिन्नता क्रान्तिकारी अमल के रूप ही में बोधगम्य हो सकती है और बुद्धि-सङ्गत ढँग से समझी जा सकती है)।"

मानव जीवन को शुभ की ओर "परिवर्त्तित" करने का काम परमात्म-अंश को भौतिक जीवन के बन्धनों से मुक्त करना नहीं है (वह तो अकाल और लाठी-गोली की कृपा से नित्य होता रहता है) बल्कि वह आत्म-परिवर्तन क्रान्तिकारी अमल में दिखाई देता है (अकाल और लाठी-गोली व्यवस्था के सक्रिय विरोध में दिखाई देता है)।

याफरबाख़ पर मार्क्स के लिखे हुए सूत्रों में नवीनजी ने क्रान्तिकारी अमल की बार-बार कही हुई बात को नजरंदाज़ कर दिया है, उसे अपनी विद्वत्तापूर्ण आलोचना के योग्य नहीं समझा।

मध्य भारत हिन्दी साहित्य सम्मेलन—प्रथम अधिवेशन ग्वालियर, ३०-३१ दिसम्बर '५२, १ जनवरी '५३—में सभापति पद से भाषण देते हुए नवीनजी ने हिन्दी आलोचना की वर्तमान गतिविधि पर प्रकाश डालते हुए कहा था, "सभी बन्धु यह जानते हैं कि हमारी साहित्यालोचन प्रणाली में इधर कुछ ऐसी धाराएँ बह निकली हैं जिनके कारण नये साहित्यिक—और पुराने भी—बड़ी गड़बड़ी में पड़ गये हैं। एक प्रकार का बुद्धिभ्रम फैलता जा रहा है। साहित्य-सम्मेलनों का, हमारे देश की साहित्यिक संस्थाओं का, यह कर्तव्य है कि वे इस पर विचार करें और साहित्यकारों तथा आलोचकों को दिशा सुझाने का प्रयत्न करें।"

मतलब यह कि आलोचकों ने साहित्यकारों को बिगाड़ा है और साहित्य-

कार समाज को बिगाड़ रहे हैं, इसलिये इन सब को दिशा सुझाने का काम साहित्यसम्मेलन आदि संस्थाओं के सभापतियों को करना चाहिये।

नवीनजीने अपने भाषण में "क्वासि" की भूमिका पढ़ने से पहले लोगों को चेतावनी दे दी थी : "पाठक और श्रोता देखेंगे कि मैंने इस प्रश्न पर तात्विक दृष्टि से विचार करने का प्रयास किया है। सम्भव है, कहीं-कहीं, तात्विक विवेचन के कारण, विषय किंचित् दुरूह, किंचित् कष्टग्राह्य, हो गया हो। पर, मेरा यह विश्वास है कि यदि साहित्यिक बन्धु इसे ध्यानपूर्वक पढ़ने का प्रयास करेंगे तो निश्चय ही उन्हें तात्विक स्पष्टता के दर्शन होंगे।"

नवीनजी ने साहित्यकारों को दिशा सुझाने की समस्या पर तात्विक दृष्टि से विचार किया है। तात्विक विवेचन कष्टग्राह्य होता देखकर उन्होंने श्रोताओं को सावधान भी कर दिया है—सुनने पर समझ में न आये तो घर जाकर पढ़ना और तब तुम्हें तात्विक स्पष्टता के दर्शन होंगे।

नवीनजी का भाषण—या "क्वासि" का उपोद्‌घात—कष्टग्राह्य या दुरूह हो सकता है, मार्क्स पर उनकी टीका-टिप्पणी के कारण। लेकिन फायरबाख पर मार्क्स का अधूरा—नवीनजी द्वारा उद्‌धृत किया हुआ—सूत्र न पढ़कर वह पूरा सूत्र या और सभी सूत्र जिनकी संख्या ग्यारह ही है और जो ढाई पन्नों में छपे हुए हैं—पढ़ने पर नवीनजी के उपोद्‌घात में कष्टग्राह्य और दुरूह कुछ भी नहीं रह जाता। मार्क्स जहाँ संसार को क्रान्तिकारी अमल से बदलने की बात कहता है, वहाँ नवीनजी आत्मा को भौतिक बन्धनों से मुक्त करके परमात्मा में लीन होने को कहते हैं। एक के लिये मनुष्य का ज्ञान उसके अमल से अभिन्न है, दूसरे के लिये ज्ञान मनुष्य के अमल से "अतिरिक्त" है।

साहित्य में बुद्धिभ्रम क्यों फैल रहा है? इसलिये कि लोग अपने इस लोक के जीवन की तरफ़ ज़्यादा ध्यान देने लगे हैं; वे परलोक की आशा में भुखमरी और महामारी के शिकार होकर बन्धनमुक्त होना नहीं चाहते। आज जनता की व्यथा देखकर—एशिया की धरती पर मानवसमाज में नये-नये परिवर्तनों की बात सुनकर—हमारे साहित्यकार भी—नये और पुराने दोनों—काँग्रेसी राम-राज्य के खिलाफ़ जनता का पक्ष लेने लगे हैं। नवीनजी इन लौकिक समस्याओं में उलझे हुए मानवों से कहते हैं—परलोक की तरफ़ देखो; तुम परमात्मा के

अंश हो; भौतिक जीवन को बदलने की बात छोड़ो, हमारे साथ क्वासि की टेर लगाओ, भारतीय संस्कृति का यही संदेश है।

नवीनजी के उपोद्घात और मध्यभारत साहित्य-सम्मेलन वाले भाषण में नये-पुराने साहित्यकारों के बुद्धिभ्रम पर क्षुब्ध होने का यही रहस्य है।

(२)

फायरबाख् पर उद्धृत किये हुए मार्क्स के वाक्य में प्रथम मान्यता को "पदार्थवादी दर्शन के इतिहास में निःसन्देह एक उत्तुङ्ग भूमि-सीमा-चिह्न" मानने के बाद नवीनजी उसी वाक्य में दूसरी मान्यता के बारे में कहते हैं: "मार्क्स के इस प्रथम सूत्र में जो दूसरी मान्यता है वह मुझे ग्राह्य नहीं है। और इसी कारण प्रथम मान्यता की सार्वभौमिक सत्यता भी मैं स्वीकृत नहीं कर सकता। प्रथम सूत्र की दूसरी मान्यता क्या है? वह यह है कि यथार्थ, सत्य (Reality), वही है जिसे हम इन्द्रियों द्वारा समझते, ग्रहण करते, हृदयङ्गम करते हैं। मैं अपने प्रगतिवादी बन्धुओं से पूछता हूँ कि क्या यह मान्यता ठीक है? इन्द्रियोपकरण द्वारा जो कुछ भी हमें उपलब्ध होता है, क्या केवल मात्र वही सत्य है? वही यथार्थ है? मैं यह नहीं कहता कि वह अयथार्थ है। पर, यथार्थ को, सत्य को, इन्द्रिय-बोध द्वारा सीमित करना—उसके परे सब कुछ असत्, अयथार्थ है, ऐसा मान लेना, मेरी सम्मति में तर्कशून्य आग्रह है।"

इस तरह नवीनजी यथार्थ को दो हिस्सों में बाँट देते हैं—एक इन्द्रियों से जाना-पहचाना जाने वाला यथार्थ, दूसरा अतीन्द्रिय यथार्थ। मार्क्सवादियों के दुराग्रह पर प्रकाश डालते हुए वह कहते हैं—देखो, मैं तो दोनो तरह के यथार्थ मानता हूँ लेकिन ये जड़वादी इन्द्रियबोध के परे कुछ मानते ही नहीं। लगता है कि मार्क्सवाद एकांगी है और नवीनजी यथार्थ को—गोचर, अगोचर दोनों रूपों में—ग्रहण करते हैं।

लेकिन एक बार दिलासा देने पर कि इद्रियोपकरण द्वारा जो कुछ भी हमें उपलब्ध होता है, "मैं यह नहीं कहता कि वह अयथार्थ है", नवीनजी कहने लगते हैं: "ज्ञानोपलब्धि-साधन-शास्त्र को देखने से पता चलता है कि इन्द्रियाँ जो कुछ भी ग्रहण करती हैं वह एक झाँई के रूप में होता है। वास्तविक,

यथार्थ,—अर्थात् बाह्य-जगत् का इन्द्रिय-ग्रहीत स्वरूप—क्या वैसा ही है जैसा हम उसका अपनी इन्द्रियों द्वारा बोध करते हैं? इस प्रश्न का तर्कपूर्ण उत्तर 'हाँ' में आज तक देने का साहस, मार्क्सवादियों के अतिरिक्त, अन्य बहुत कम लोगों को हुआ है। क्या यह सत्य नहीं है कि हमारे-आपके लिये जो यह रंग-बिरंगा जगत् है, वह एक रंग-अंध मानव के लिये नहीं है? तब क्या उस बिचारे रंग-अंध जन का इन्द्रियों के द्वारा ग्रहीत यह जगत् अयथार्थ है? विकार किसमें है? उस रंग-अंध में, क्योंकि उसकी संख्या कम है? तब क्या हम बहु संख्या के बल पर तत्व निरूपण करेंगे? क्या आश्चर्य कि विकार हम बहु-संख्यकों में ही हो? और क्या आश्चर्य कि यह सतरंगी जगत् वास्तव में रंग-रहित, अरंगी हो? हम लोग उस मानव को, जो रंग नही देखता, रंग-अंध कहते हैं। पर, यदि वह हमें भ्रमान्ध कहे तो? मेरे कथन का केवल मात्र अर्थ यह है कि केवल इन्द्रिय सम्वेदन को ही यथार्थ का एकमात्र साक्षी मान लेना मुझे भ्रामक प्रतीत होता है। वह वास्तव में भ्रामक है।"

इससे यही साबित होता है कि नवीनजी के लिये अगोचर यथार्थ ही एक-मात्र यथार्थ है। गोचर यथार्थ भ्रामक है; इसलिये वह यथार्थ की प्रतीति मात्र है, यथार्थ नहीं। इसलिये नवीनजी का यह वाक्य—"मैं नहीं कहता कि वह अयथार्थ है"—पाठक को दिलासा देने भर के लिये है। उनके लिये गोचर यथार्थ भ्रम मात्र है; वास्तविकता उससे परे है।

इन्द्रियों से जाना-पहचाना जगत् भ्रामक क्यों है? इसलिये कि ज्यादातर लोगों को वह रंग-बिरंगा दिखाई देता है लेकिन कुछ लोगों को वह रंगहीन भी लगता है। एक ही इन्द्रिय से दो आदमियों को दो तरह का बोध हो तो —हाँ, तो किस पर सन्देह होना चाहिये? आँख पर या दुनिया पर? नवीन जी का तर्क है कि आँखों को भ्रम हो सकता है, इसलिये जो कुछ भी दिखे वह सभी भ्रम है, दुनिया ही भ्रम है।

यह कठिनाई उस वेदान्ती के सामने भी आई थी जो रस्सी में साँप और साँप में रस्सी का भ्रम होने पर इस नतीजे पर पहुँचा था कि दुनियाँ में न रस्सियाँ हैं, न साँप हैं; यही नहीं, रस्सी और साँप देखने वाली आँख (और मन) भी भ्रम हैं। न्याय दर्शन को मानने वाले ने यह मुश्किल बड़ी आसानी

से हल कर दी थी। उसने कहा,—छड़ी लेकर हिलादो, साँप होगा तो भागेगा, रस्सी होगी तो पड़ी रहेगी।

व्यवहार से ज्ञान और ज्ञान से व्यवहार—इन दोनों के सम्बन्ध को भारत के दार्शनिकों ने न जाने कितनी शताब्दियों पहले समझ लिया था। इसलिये मार्क्स का ज्ञान और व्यवहार वाला सूत्र हमारी समझ में जल्दी आना चाहिये लेकिन नवीनजी जैसे कवि और विद्वान् भारतीय दर्शन के उन सूत्रों को भूल जाते हैं जिनमें ज्ञात वस्तु का प्रमाण मनुष्य का व्यवहार माना गया है। इसलिये ज्ञान के क्षेत्र से व्यवहार को निकाल कर नवीनजी जैसे विद्वान् मार्क्सवाद ही का विरोध नहीं करते, वे भारतीय दर्शन की क्रान्तिकारी परम्पराओं को भी ठुकराते हैं।

संसार को जानने-पहचानने की सम्भावना पर ही सन्देह करने वालों की युक्ति पर एंगेल्स कहते हैं, "इसका और इसी तरह की और दूसरी दार्शनिक फुलझड़ियों का ज़बरदस्त खण्डन है व्यवहार अर्थात् प्रयोग और उद्योग। किसी प्राकृतिक क्रम को खुद बनाकर उसके बारे में जब हम अपनी धारणा सही साबित कर सकते हैं, उसकी परिस्थितियों में उसे जन्म दे सकते हैं और घाते में उससे अपना काम भी निकाल सकते हैं, तब काण्ट की अबोधगम्य 'अपने में स्थित वस्तु' का अन्त हो जाता है। पौधों और पशुओं की देह में पैदा होने वाले रसायन ऐसी ही 'अपने में स्थिति वस्तुएँ' थे जब तक कि ऑर्गैनिक केमिस्ट्री ने उन्हें एक के बाद एक बनाना शुरू न कर दिया था। तब 'अपने में स्थित वस्तु' हमारे लिये स्थित वस्तु बन गई। मिसाल के लिये मैडर का रंग-द्रव्य, अलीज़रीन है, जिसे हम अब खेत में मैडर की जड़ों में उगाने नहीं जाते बल्कि बहुत ज़्यादा सस्ती दर पर और आसानी से कोलतार से बना लेते हैं।"

इसलिये अगर कुछ लोगों को दुनिया बेरंग दिखाई देती है तो इसका यह मतलब नहीं कि सभी लोग अंधे हो जायँ या दुनिया के अस्तित्व से ही इन्कार करदें। जिन्हें दुनिया बेरंग दिखाई देती है, उनके अन्धेपन को दूर करने के लिये रसायन मौजूद है—मनुष्य के व्यवहार का दर्शन मार्क्सवाद। लेकिन व्यवहार एक ऐसी चीज़ है जो इन सज्जनों को फूटी आँखों नहीं सुहाती।

गोचर संसार को स्वप्न सिद्ध करने के लिये नवीनजी ने स्वप्न में गोचर संसार का भ्रम पैदा होने की बात कही है। लिखा है, "यदि इन्द्रिय सम्वेदन वास्तव में यथार्थ का बोधक है, यदि वह वास्तव में हमें, जो भी वास्तविक जगत्-स्वरूप है, उसकी छायामात्र का बोध नहीं कराता है, तो स्वप्न-जगत् का क्या होगा ? स्वप्न-जगत् की छायाएँ, जो हमारे मस्तिष्क पर अङ्कित हैं, स्वप्न में यथार्थ जगत् के रूप में आ जाती हैं। तब, क्या हम उस स्वप्न-विहार को भी यथार्थ मानलें ? इन प्रश्नों का उत्तर पदार्थवादी दर्शन, जो इन्द्रिय-बोध को ही यथार्थ का मापक मानता है, आज तक देने में असमर्थ हुआ है, भविष्य में भी वह उनका उत्तर न दे सकेगा।"

भले ही पदार्थवादी दर्शन इन॰ प्रश्नों का उत्तर न दे सके, नवीनजी ने स्वप्न और यथार्थ के सम्बन्ध पर प्रकाश डाल ही दिया है। और वह इस वाक्य में—"स्वप्नजगत् की छायाएँ, जो हमारे मस्तिष्क पर अङ्कित हैं, स्वप्न में यथार्थ जगत् के रूप में आ जाती हैं।"

मस्तिष्क पर जो छायाएँ अङ्कित है, वे किसकी छाया हैं ? किसी यथार्थ जगत् की ही छायाएँ होंगी ; बिना जड़, शाखा, पत्ती वाले पेड़ की छाया तो हो नहीं सकती क्योंकि छाया देना ऐसे पेड़ का काम नहीं है। और इन छायाओं में किसका भ्रम होता है ? यथार्थ जगत् का भ्रम होता है। लेकिन स्वप्न की छायाओं और यथार्थ जगत् का यह भेद नवीनजी को मालूम कैसे हुआ ? ज़ाहिर है, व्यवहार से। स्वप्न में कितने भी लड्डू खाओ, भूख शान्त नहीं होती। व्यवहार इन्सान को सिखा देता है कि यह लड्डू खाना भ्रम है। इसलिये आँखें बंद करके स्वप्न में देखा हुआ संसार सत्य है या आँख खोलकर देखा हुआ संसार सत्य है, इसका प्रमाण व्यवहार ही है। स्वप्न में लड्डू खाकर भूख शान्त न होने से यह साबित नहीं होता कि भूख भ्रम है, खाना खाकर जीवित रहना भ्रम है बल्कि व्यवहार द्वारा अपनी आवश्यकताएँ पूरी करके मनुष्य बहुत जल्दी यथार्थ और यथार्थ के भ्रम स्वप्न जगत् का भेद समझ लेता है।

इसलिये जो कुछ भी जिस किसी को भी जहाँ कहीं भी दिखाई दें जाय, मार्क्सवाद उस सभी को सत्य मानने के लिये तैयार नहीं है। काँग्रेस के नेताओं

को दिखाई देता है कि आज़ाद होने के बाद देश दिन पर दिन उन्नति करता जा रहा है, हमने यह आज़ादी अहिंसावादी उपायों से पायी है, इसलिये हमारी आजादी के फल भी औरों की आजादी से मीठे हैं और पंचवर्षीय योजना पूरी होने पर रामराज्य में चार चाँद लग जायँगे,—इस सब दिखने (या दिखाने) की कसौटी व्यवहार ही है। अपने देशवासियों के मुँह की तरफ देखो, स्वप्न और यथार्थ का भेद मालूम हो जायगा।

लेकिन स्वप्न की छायाओं को यथार्थ जगत् न मानने पर नवीनजी मार्क्सवादियों से रुष्ट हो जाते हैं। स्वप्न की छायाओं को, जो व्यवहार में असत्य साबित होती हैं, मनुष्य का अद्भुत अनुभव बतलाते हुए नवीनजी कहते हैं, "मानव-समाज के अब तक के अद्भुत अनुभव हमें यह बताते हैं कि इन्द्रिय-बोध के अतिरिक्त भी यथार्थ का अस्तित्व है। निःसन्देह पदार्थवादी दार्शनिक इस बात को नहीं मानेंगे। उनकी इस अस्वीकृति में अनुचित आग्रह का पुट है। वे सम्पूर्ण मानव समाज के अद्यावधि अनुभवों से लाभ उठाना नहीं चाहते। उन्होंने अपने को अपनी मान्यता की, अपने आग्रह की, सीमा में बाँध लिया है। उनके द्वार मुक्त नहीं हैं। इस कारण, उनकी विचारधारा अवैज्ञानिक है। एक सीमा तक प्रगतिवाद के घोड़े पर चढ़ कर वे जाते हैं; पर अन्ततोगत्वा उनके घोड़े का मुख, निर्गतिवाद और प्रतिक्रियावाद की ओर मुड़ जाता है। यह बात चिन्ताजनक है।"

इस चिन्ताजनक परिस्थिति से मार्क्सवाद की रक्षा करने के लिये नवीनजी उसके मार्ग में खड़े होकर उसे सावधान करते हैं,—आगे प्रतिक्रियावाद है, इसलिये कहना मानो, पीछे लौट चलो। और उनके हाथ में वही अतिरिक्तवादी झंडी है जिसे चारों तरफ हिलाकर वह कहते हैं, "इन्द्रियबोध के अतिरिक्त भी यथार्थ का अस्तित्व है।" अगर उसका अस्तित्व है तो आओ, व्यवहार में उसे परखें। लेकिन व्यवहार में जो अनुभव परखा जायगा, वह इन्द्रियबोध से परे कैसे होगा ? नवीनजी व्यवहार की कसौटी से दूर रहना चाहते हैं लेकिन उनकी इस अस्वीकृति में उचित आग्रह का पुट है, यह आपको मानना होगा। अनुचित आग्रह तो मार्क्सवादियों का है, जो अपनी मान्यता की सीमा में बँधे हुए हैं, यानी जो स्वप्न और यथार्थ में भेद करते हैं, जो अन्धे और आँख

वाले के अनुभवों पर समान रूप से विश्वास नहीं करते।

"इन्द्रियबोध के अतिरिक्त भी यथार्थ का अस्तित्व है"—यह पढ़कर आप कल्पना करेंगे कि नवीनजी अब अतीन्द्रिय अनुभवों की चर्चा करने वाले हैं। लेकिन एंगेल्स से एक और उद्धरण देकर और मार्क्सवाद पर, "नितान्त-अनैतिहासिक, थोथी, निःसार और मानव समाज के संचित अनुभव के विपरीत" मान्यता अपनाने का अपराध लगाकर नवीनजी जिस अतिरिक्त यथार्थ तक पहुँचते हैं, वह यह है: "ठीक है, पर प्रश्न यह है कि उन बर्बर समाजों में जो टोने-टटके, यन्त्र-तन्त्र आदि के प्रयोग होते हैं उनका भी अध्ययन किया गया है? यदि नहीं, तो क्यों नहीं? यदि हाँ, तो क्याकोई ऐसे अद्भुत दृग्विषय दीख पड़े हैं जिनका भाष्य वैज्ञानिक भौतिकवाद करने में हिचकता है? बर्बर समाज में जो भी पैठ पाये हैं उन्हें सहस्रों बार इस प्रकार के महदाश्चर्य पूर्ण दृग्विषयों से पाला पड़ा है।"

अद्भुत दृग्विषय? महदाश्चर्यपूर्ण दृग्विषय! लेकिन आखिर दृग्विषय ही! और जो दृग्विषय है, वह इन्द्रियबोध के अतिरिक्त यथार्थ कैसे है, यह समझना साधारण विवेक के बस से बाहर है। जो दृग्विषय है, वह इन्द्रियबोध का विषय भी है, फिर नवीनजी उसे अतिरिक्त यथार्थ कह कर वैज्ञानिक भौतिकवाद को क्यों ललकार रहे हैं?

नवीन जी के दृग्विषय व्यवहार जगत् के दृग्विषय नहीं हैं। वह स्वप्न जगत् के दृग्विषय की बात कह रहे हैं। लेकिन बर्बर समाज के टोनों-टटकों से वह इस कदर प्रभावित हैं कि अर्द्धचेतन अवस्था के "अनुभवों" को अतीन्द्रिय ही मान बैठते हैं।

मार्क्सवाद की मान्यता अनैतिहासिक है, थोथी है, निःसार है, मानव-समाज के संचित अनुभवों के विपरीत है, इसलिये कि वह टोनों टटकों पर विश्वास नहीं करती, उन्हें व्यवहार की कसौटी पर परख कर मिथ्या साबित कर देती है! इसलिये आज के यथार्थ से परेशान कवि कहता है—आओ, बर्बर युग की तरफ़ लौट चलो; तुम्हारा सारा विज्ञान प्रवंचना है; सत्य का दर्शन तो उन्होंने किया है जिनके सिर पर देवी आती है!

नवीन जी ने एक हठयोगी का ज़िक्र किया है जो पोटैशियम साइनाइड

खाकर भाषण देता रहा। लेकिन भारतीय दर्शन में हठयोग अतीन्द्रिय यथार्थ की श्रेणी में कब से आ गया? ज़हर खाकर जीते रहना तो दूर, यहाँ तो बाक़ायदा ऐसे विषभक्षकों का उत्पादन होता रहा है, जिनके संसर्ग मात्र से दूसरे के प्राण निकल जायँ। लेकिन आज तक विषकन्याओं को किसी ने अतीन्द्रिय यथार्थ के लिये प्रमाण न माना था। यह महान् दर्शन-सामर्थ्य, यह गहर गंभीर मौलिकता नवीन जी ही में है!

उनके दिये हुए प्रमाणों पर लोग हँसेंगे, इस सन्देह से नवीनजी पहले ही अपनी सफाई दे देते हैं। कहते हैं, "प्रगतिवादी भौतिक दर्शन शास्त्री अथवा उनके अनुयायी यह पढ़कर हसेंगे। पर अनुचित आग्रहपूर्ण हंसी में वास्तविक घटना निमज्जित नहीं होगी। भौतिक प्रतिक्रिया को—मानव शरीर पर हलाहल विष की प्राणघातक प्रतिक्रिया को—जो अतिकमित कर दे, वह क्या है? आधिभौतिक या अभौतिक, अतः आध्यात्मिक?"

कहावत है, लोहे को लोहा ही काटता है। लेकिन नवीन जी की युक्ति है कि जिससे लोहा कटेगा, वह अधिलोह या अलोह, इसलिये रूह ही होगा। एक और कहावत खास विष के ही बारे में है,—विषस्य विष मौषधम्, लेकिन नवीन जी का कहना है कि जो विष की औषध हो, वह अधिविष या अविष, इसलिये विषयातीत ही होगा!

अन्त में पुनर्जन्म के आश्चर्यजनक उदाहरणों की दुहाई देते हैं। बालक बालिकाओं द्वारा दूर के ग्राम-नगर के भूगोल बताने, विशिष्ट घरों कुटुम्बों का हाल और उनके जन्मों के नाम बताने का भी प्रमाण है। "इस देश में ऐसी एक नहीं सहस्त्रों घटनाएँ घटती रहती हैं।"

हाँ, इस देश में विशेष रूप से घटती रहती हैं। पहले वे दूसरे देशों में भी बहुतायत से घटा करती थीं (पुनर्जन्मवाद भारत ही में प्रचलित नहीं रहा) लेकिन सामाजिक विकास, वैज्ञानिक उन्नति और उद्योग-धन्धों की प्रगति के साथ उन देशों में ऐसी घटनाओं की संख्या शून्य तक पहुँच गई है। इसके लिये वहाँ कोई मार्क्सवाद को दोष नहीं देता। लेकिन नवीन जी कहते हैं—"इनको कपोलकल्पना कह कर टालना अवैज्ञानिक अथच प्रतिक्रियावादी मनोवृति का परिचय देना है।"

सभी लोग जानते हैं कि इस तरह के मिथ्या विश्वासों का विरोध हिन्दुस्तान के सभी समाजसुधारकों ने किया है। लेकिन आज संकट में पड़े हुए काँग्रेसी रामराज्य के वकील उन तमाम सुधारकों की परंपराएँ ठुकराकर टोने-टटके, यंत्र-मंत्र और बालक-बालिकाओं के चुटकलों से यथार्थ जगत् को मिथ्या साबित करना चाहते हैं। ये उन लोगों की श्रेणी में हैं जिनके लिये बहुत पहले गोस्वामी तुलसीदास ने "भजहिं भूत गन घोर" लिखा था।

भारत में व्यवहार से असिद्ध स्वप्नलोक की सीमाएँ बराबर संकुचित होती गई हैं। पुनर्जन्म की तो बात ही क्या, यहाँ तो चौरासी लाख योनियों का हिसाब-किताब रखा जाता था और गाँव के ओझे-सयाने छिपकली-छछूँदर से लेकर मानवजन्मतक—अतीत और भविष्य का—सारा हिसाब किताब बताने के लिये तैयार रहते थे। तेतीस करोड़ देव देवियों, असंख्य किन्नर, मुनि, गंधर्व, अप्सराएँ, नरक के यमदूत, रौरव, कुंभीपाक—ये सब "अतिरिक्त यथार्थ" अब काल के गर्भ में विलीन हो गये हैं। इसके लिये दोष देना चाहिये मानव-समाज की समूची प्रगति को, न कि मार्क्सवाद को। और नवीनजी आज के प्रचलित प्रगतिवाद के विरोधी नहीं हैं, वह मानवप्रगति के ही विरोधी हैं। आज मार्क्सवाद इतिहास को गति देने वाला क्रान्तिकारी दर्शन मानव समाज की कायापलट कर रहा है, इसलिये नवीनजी को वह "प्रतिगतिपूर्ण प्रतिक्रियावादी सिद्धान्त" मालूम होता है। इसलिये मार्क्स के आगे नवीन जी का श्रद्धानत शीश बोल उठता है, "हमें दुख है कि ऋषि कार्ल मार्क्स और प्रकाण्ड विद्वान् शिरोमणि फ्रेडरिक एंगेल्स ने इस प्रकार की जड़तापूर्ण स्थापना को स्वीकृत करके अपने दर्शन तत्व को गतिशून्य एवं प्रतिक्रियावादी बना दिया है। इस प्रकार उन्होंने मानव-प्रगति को रोक दिया है।"

लेकिन जड़तापूर्ण स्थापना किसकी है? मानव प्रगति किसके लिये बर्बर युग में सीमित रह गई है? आज के यथार्थ जीवन में गतिशून्य कौन है? टोनों टटकों और यंत्रों मंत्रों की दुहाई कौन दे रहा है? जनता के संघर्षों का विरोध कौन कर रहा है? जिसे करोड़ों जनता को संगठित करके दासता से मुक्ति की ओर ले जाने वाला दर्शन प्रतिक्रियावादी मालूम होता है, क्या वह उस रंग-अंध मनुष्य की तरह नहीं है जिसे सारा संसार बेरंग दिखाई देता है?

नवीन जी ने ऋषि मार्क्स की प्रशंसा में जो शब्द लिखे थे, उनका उतना ही मूल्य है जितना प्रतिक्रियावादी आदि उपाधियों का। वह मार्क्सवाद के आसपास चक्कर लगाते हैं लेकिन नजदीक आने से डरते हैं, कहीं आँच न लग जाय। मार्क्सवाद के लिये सत्य की कसौटी व्यवहार है, मनुष्य का कर्म है। लेकिन दूसरों की मेहनत पर ऐश करने वाले वर्गों को व्यवहार से सत्य को परखने वाला सिद्धान्त जरा भी नहीं भाता। वे अपने गुलामों को व्यवहार जगत् से मोड़ कर टोने-टटकों, जंत्रों-मंत्रों की दुनिया में फँसाना चाहते हैं। जब वे सफल नहीं होते तब उनके वकील कहते हैं—हिन्दी के नये पुराने साहित्यकारों को बुद्धिभ्रम हो गया है, साहित्यालोचन प्रणाली ने भोले भाले लोगों में गड़बड़ी पैदा करदी है। वे साहित्यकारों को दिशा सुझाने के लिये आगे बढ़ते हैं लेकिन आँखों से जो सूझे, उसे प्रमाण मानने, व्यवहार से उसे परखने में विश्वास नहीं करते।

जब गीदड़ की मौत आती है तब वह गाँव की तरफ भागता है। जब शोषक वर्गों की मौत नज़दीक आती है तब वे मार्क्सवाद को कोसने लगते हैं। यह परिस्थिति चिन्ताजनक है।

(३)

जब जड़ ही ग़लत होगी, तब पल्लव और शाखाएँ कहाँ से दुरस्त होंगे! जब मार्क्सवाद की विश्व-संबन्धी मूल धारणाएँ ही ग़लत हैं, तब उन धारणाओं के आधार पर रचा हुआ सौन्दर्यशास्त्र कैसे दुरुस्त होगा!

नवीन जी कहते हैं कि "इस दर्शन सिद्धान्त पर जो भी साहित्य-कला-सौन्दर्य-शास्त्र आधारित होगा, वह पूर्ण रूप से ग्राह्य नहीं हो सकता। इस प्रकार का शास्त्र, उस अंश तक जिस तक वह अपने को पदार्थवादी दर्शन का अनुगामी बना लेता है, मानव प्रगति को रोकने वाला, अतः मानवोन्नतिबाधक, गति-अवरोधक, अचल तथा प्रतिक्रियावादी सिद्ध होगा। इस प्रकार के साहित्य-कला-सौन्दर्य शास्त्र में केवल उसी सीमा तक गति होगी जिस सीमा तक वह जीवन के तथ्य को स्पर्श, विकसित और प्रस्फुटित करेगा। किन्तु जिस समय वह शास्त्र जीवन के तथ्य को केवल भौतिकता में बाँधने का दुराग्रह करने

लगेगा, उसी समय वह विचार-विकास-विरोधी के रूप में प्रकट हो जायगा। हिन्दी के आलोचना-इतिहास में इसी प्रकार की प्रवणता, इसी प्रकार के झुकाव, का आविर्भाव हो गया है। यह खेद की बात है।"

मतलब यह कि अभौतिक सौन्दर्य पर शास्त्र लिखा जाय तो ठीक, भौतिक जीवन में सौन्दर्य दिखाई दे तो बेठीक। यदि किसी वस्तु में सौन्दर्य होगा तो दृग्विषय हो जायगा। इसलिये सौदर्न्य होना चाहिए ऐसा जो किसी वस्तु में न हो। कवि अपनी कविता में किसी की सुन्दरता का वर्णन तो करे लेकिन वह सुन्दर आपका दृग्विषय न हो, वह अतिरिक्त यथार्थ हो, या स्वप्नजगत् की छायाओं का सौन्दर्य हो। नवीन जी के अनुसार जीवन का तथ्य भौतिकता से परे हैं, इसलिये उनका सौन्दर्य भी अभौतिक यानी रंगरूप हीन है। वह रंग-अन्ध मनुष्यों वाला सौन्दर्य है!

नवीन जी ने "हल! हल! हल! चलाओ हल!!" नाम की कविता उद्धृतकर के किसी प्रगतिशील आलोचक की कल्पित प्रशंसा लिखी है। फिर 'एक विन्दु, इन्दुमथित सिन्धुलहर छोड़ चली" आदि दूसरी कविता उद्धृत करके उसी आलोचक द्वारा उसकी कल्पित निन्दा लिखी है। उसके बाद परिणाम यह निकाला है, "इस प्रकार की आलोचना वृत्ति हिन्दी में चल रही हैं। मेरा केवल इतना निवेदन है कि इस प्रकार के आग्रह से हिन्दी में इन लोगों की मनचाही प्रगतिशीलता का आविर्भाव नहीं होगा। प्रगतिवादी बन्धुओं की प्रगतिशीलता, जैसा मैं कह चुका हूँ, वास्तव में प्रतिगामिता है। इस प्रकार के जड़वाद को हिन्दी संसार नहीं अपनायेगा। मानव को उन्नत, बन्धन-मुक्त करना, मानव-समाज को भेड़ियों के समाज से भिन्न स्थिति प्रदान करना, यह सब का लक्ष्य है। पर, यदि कोई यह कहे कि राग, द्वेष, घृणा और हिंसा वृत्ति को उभारने से ही उस प्रकार के समतावादी समाज का निर्माण हो सकेगा, तो मेरा निवेदन है कि ऐसी मान्यता ऐतिहासिक और वर्तमान मानव समाज के घटना-क्रम के विरुद्ध है।"

अच्छा, यथार्थ में भेड़ियों का समाज भी है! हम तो समझे थे कि भेड़ और भेड़िये का भेद ही भ्रम है लेकिन यहाँ पर नवीन जी अगोचरलोक से हमारे गोचर संसार के इतने नज़दीक आ जाते हैं कि मानव-समाज को

भेड़ियों के समाज से भिन्न स्थिति प्रदान करना अपना लक्ष्य भी घोषित करते हैं। और भेड़िया होता है हिंसावादी। लेकिन न अपनी समूची भूमिका में और न "क्वासि" की कविताओं में नवीन जी ने कहीं मनुष्य को भेड़ियों से सावधान किया है। उन्हें हिंसा का डर भेड़ियों से नहीं है बल्कि उनसे जो भेड़ियों के प्रति अनुराग, और भ्रातृप्रेम का व्यवहार न करके उनके प्रति रागद्वेष और घृणा प्रकट करते हैं। भेड़ियों से घृणा! इससे अधिक आश्चर्य की बात क्या होगी? यह घृणा नितान्त अनैतिहासिक और सामाजिक प्रगति के विरुद्ध है! यह जड़वाद है! हिन्दी साहित्य इसे कभी नहीं अपनायेगा!

फिर इन्सानी भेस में छिपे हुए भेड़ियों का अपना साहित्य हो, जनसाधारण का दूसरा हो,—यह भेद नवीन जी को कैसे सह्य हो सकता है? इसलिये वर्ग-युक्त समाज में साहित्य वर्गों से परे नहीं होता, बल्कि उसका वर्ग-आधार होता है, इस मार्क्सवादी सिद्धान्त की अनैतिहासिकता वह सिद्ध करते हैं। मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन का हवाला देने के बाद नवीन जी कहते हैं, "जो धारणाएँ, जो सैद्धान्तिक मान्यताएँ मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन की हैं, उनके अनुसार तो यही निष्कर्ष निकलेगा जो महामानव लेनिन ने निकाला है। परंतु जो बात विचारणीय है वह यह कि क्या उनकी वे मान्यताएँ ऐतिहासिक रूप से सत्य हैं?"

मार्क्स और लेनिन का द्वंदात्मक भौतिकवाद भी ग़लत है, उनका ऐतिहासिक भौतिकवाद भी ग़लत है। प्रमाणरूप में भारत का साहित्य है।

नवीन जी मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन के इतिहास-ज्ञान का खंडन करते हुए कहते हैं, "भारतीय साहित्य की ओर दृक्पात कीजिए और देखिए कि क्या मार्क्स-एंगेल्स-लेनिन की बात ठीक है? उनका यह कथन कि श्रेणीबद्ध समाज में साहित्य कला तथा अन्य कलाएँ श्रेणी विशेष के हितों को प्रतिबिंबित करती हैं, भारतीय दर्शन-साहित्य, उपनिषत् साहित्य, आदि काव्य साहित्य पर घटित होता है? भारतीय दर्शनों का साहित्य किस श्रेणी के हित को दरसाता है? क्या ब्राह्मण श्रेणी के? कदापि नहीं। ईश, केन, कठ, आदि उपनिषत् ग्रन्थों का साहित्य किस श्रेणी के हित का प्रतिबिंबक या समर्थन है? रामायण क्या क्षत्रिय श्रेणी-हितों का उन्नायक ग्रन्थ है? जिसका

मस्तिष्क यथास्थान है, वह तुरन्त देख लेगा कि मार्क्स-ऐंगल्स-लेनिन का वह पक्षावलंबी सिद्धान्त भारतीय साहित्य की इन धाराओं पर लागू नहीं होता।"

नवीन जी के लिये वर्ग क्या है? उनके लिए वर्ग वर्ण का पर्यायवाची हो गया है। इसलिए अगर एक ब्राह्मण दूसरे ब्राह्मण को रुपया उधार देकर ब्याज खाता है तो दोनों एक ही वर्ग के हुए! एक क्षत्रिय राजा एक क्षत्रिय किसान से फसल का चौथा हिस्सा ले तो दोनों एक ही वर्ग के हुए! नहीं, नहीं, सतयुग में क्षत्रिय न तो हल जोतते थे, न ब्राह्मण सूद खाते थे। लेकिन सतयुग में ब्राह्मण क्षत्रिय थे कहाँ?

और नवीन जी के मन में यह प्रश्न क्यों उठा कि रामायण क्षत्रिय श्रेणी हितों का उन्नायक ग्रंथ समझा जा सकता है? शायद इसलिये कि उसका नायक क्षत्रिय है। इस न्याय से बंगाल के ईसाई कवि माइकेल मधुसूदन दत्त का "मेघनादवध" राक्षसवंश का उन्नायक ग्रंथ भी समझा जा सकता है!

नवीन जी ने जिस तरह मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद से व्यावहारिकता निकाल कर उसे जो कुछ जिसे दीखे, उसका समर्थन मान लिया था, उसी तरह उन्होंने मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद से उत्पादन-संबन्ध निकाल कर उसे वर्ण-वाद का समर्थक बना दिया है! फिर मानों मार्क्सवाद भारत के दर्शन और महाकाव्यों को ब्राह्मण और क्षत्रिय नाम के दो वर्गों का प्रतिनिधि मानता हो, वह उसकी इस घोर अबोधता पर आक्रमण करके कहते हैं—देखो, यह है मार्क्सवादियों का सौन्दर्यशास्त्र!

अगर दर्शन और महाकाव्य रचने के समय भारत के लोग खाते पीते, कपड़े पहनते और घरों में रहते भी थे तो इसके लिये वे जरूरी चीजें पैदा भी करते होंगे। इन चीजों को पैदा करने में उन्होंने काम का बटवारा भी किया होगा। इस बटवारे के हिसाब से उनमें आपस के कुछ उत्पादन-संबन्ध भी रहे होंगे। जिस समाज में उत्पादन का काम दास करते हैं, जिनके जीवन पर मालिक का अधिकार होता है, उसे समाजशास्त्र में दासप्रथा वाला समाज कहा जाता है। जिस समाज में उत्पादन का काम अर्द्धदास करते हैं जिनके जीवन पर मालिकों का पूरा अधिकार नहीं होता, उसे सामन्ती व्यवस्था वाला समाज कहा जाता है। हिन्दुस्तान के इतिहास में इन दोनों तरह की व्यवस्थाओं

वाले समाज के प्रमाण मिलते हैं। वे गणराज्य जिनका ज़िक्र स्वर्गीय जायसवाल की "हिन्दू पौलिटी" में किया गया है, दास प्रथावाली व्यवस्था के समाज थे जिनमें उत्पादन के साधनों पर गण के स्वाधीन नागरिकों का अधिकार होता था और उत्पादन का काम जिनमें मुख्यतः दास करते थे। हमारे इतिहास में उस सामन्ती व्यवस्था के प्रचुर प्रमाण हैं जिसमें उत्पादन का काम अर्द्धदास करते थे या ऐसे मुक्त मानव करते थे जो पैदावार को पूरी तरह अपनी संपत्ति न कह सकते थे। इस व्यवस्था का प्रमाण कौटिल्य के अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थों में मिलेगा।

अब नवीन जी यह बतलायें कि वह भारत के किस दर्शन की बात कह रहे हैं? दासप्रथा वाले गण राज्यों में रचे हुये दर्शन की या सामन्ती समाज में रचे हुए दर्शन की? अगर यह प्रश्न उन्हें अनुचित लगे तो कृपया बतलाएँ कि भारतीय दर्शन की किस धारा, किस प्रवृत्ति की वह बात कर रहे हैं? नवीन जी भले ही यह कह कर अपने मन को तसल्ली दे लें कि भारतीय संस्कृति के माने गान्धी, विनोबा, कबीर, तुलसी, सूर, ज्ञानदेव, तुकाराम हैं लेकिन वह अच्छी तरह जानते हैं कि ये सभी सन्त फ़ासिवादी नहीं हैं।

मार्क्सवाद वर्गों की भूमिका को भी ऐतिहासिक विकास के संदर्भ में देखता है। एक समय आदिम समाजव्यवस्था के मुकाबले में दास प्रथा ने मनुष्य के विकास में क्रान्तिकारी परिवर्तन किये। यही बात सामन्ती समाज के लिये भी ठीक है। इसलिये कोई दर्शन या काव्य गुलामों के मालिकों या सामन्तों का समर्थक होने से ही मार्क्सवाद के लिये निन्दनीय नहीं हो जाता। देखना यह चाहिए कि मानव संस्कृति के विकास में किस वर्ग की किसी युग विशेष में कौनसी भूमिका रही है। मार्क्सवाद इन वर्गों की रची हुई संस्कृति को आँख मूँद कर ठुकराता नहीं है, न हवा में नयी मानव संस्कृति की रचना करता है। वर्गयुक्त समाज में वर्ग-आधार पर जितना भी मनुष्य ने ज्ञान अर्जित किया है, मार्क्सवाद उसका मूल्याङ्कन करके उसे विकसित करता है।

मार्क्सवाद की यह भी मान्यता है कि वर्गयुक्त समाज में दो तरह की संस्कृति होती है, एक मेहनत करने वाली जनता की, दूसरी उससे लाभ उठाने वालों की। इसलिये सामन्ती समाज में रचा हुआ सभी साहित्य सामंती वर्ग

के हितों का प्रतिनिधि नहीं होता।

समाज के वर्ग एक ही व्यवस्था के अन्दर काम करते हैं, इसलिये परस्पर एक दूसरे के सम्पर्क में आकर परस्पर प्रभाव भी डालते हैं। इसीलिये जनता का पक्ष लेने वाले कवियों में भी बहुधा उन विचारों की झलक मिलती है जो सामंतों के लिये हितकर होते हैं। इससे साहित्य में वर्ग-सिद्धान्त की निरर्थकता साबित नहीं होती। साबित होती है संस्कृति के क्षेत्र में वर्ग-आधार की पेचीदगी जो सीधे दो-दुनी चार रूप में प्रकट न होकर संश्लिष्ट रूप में प्रकट होती है। इसका कारण यह है कि उत्पादन-व्यवस्था के आधार एकबार सांस्कृतिक रूपों का निर्माण हो जाने पर मनुष्य जल्दी उन्हें छोड़ता नहीं है बल्कि पुराने रूपों में नए तत्व डालने की कोशिश करता है। मार्क्सवाद संस्कृति का विश्लेषण करके बतलाता है कि उसका क्षेत्र सापेक्ष दृष्टि से स्वतंत्र होता है। संस्कृति और उत्पादन-सम्बन्धों में ईंट और गारे का सम्बन्ध न होकर उनके बीच अक्सर फासला भी रहता है।

इसलिये संस्कृति में मार्क्स के वर्ग-सिद्धान्त को लागू करते हुए अगर कोई पूछता है कि रामायण क्या क्षत्रिय-श्रेणीहितों का उन्नायक है तो इसमें मार्क्सवाद का दोष नहीं है, यह उस विच्चित्रवीर वाली बुद्धि का दोष है जो हवाई-चक्कियों को दैत्य मानकर उन पर हमला कर बैठा था।

भारत में दासों के स्वामियों ने ही आदिम समाज की बर्बरता का अन्त करके यहाँ के उस दर्शन को जन्म दिया था जो व्यवहार को सत्य की कसौटी मानता था। इस वर्ग ने ही भारत के उस अद्‌भुत तर्कशास्त्र को जन्म दिया था जो विश्व संस्कृति को भारत की महत्वपूर्ण देन है। इसी वर्ग ने दशमलव का आविष्कार किया था और ज्योतिष तथा रसायन में महत्वपूर्ण बातों का पता लगाया था। उत्पादन में युगान्तरकारी विकास करके उसने स्थापत्य और शिल्पकला में अदभुत उन्नति की थी। लेकिन इस तमाम सम्पत्ति में अपनी ओर से वह दासों को साझीदार बनाने के लिये तैयार न था। जन्म से श्रेष्ठता का भाव भी इस वर्ग का विशेष संस्कार था।

सामन्ती व्यवस्था के नायकों ने गणराज्यों के जन्मजात नागरिकों और विदेशियों के भेद को दूर किया, उसने लोहे के हल चलाकर भूमि के विशाल

भाग उत्पादन के लिये तैयार किये। उस व्यवस्था में भारत के स्थापत्य, शिल्प आदि ने और भी उन्नति की। इसी व्यवस्था में शूद्रों को अपवित्र, ब्राह्मणों को देवता रूप, राजा को ईश्वर-अंश, नरक का भय, वर्णव्यवस्था की रक्षा के लिये स्मृति ग्रन्थों, भाग्यवाद आदि की संस्कृति भी रची गई।

लेकिन वर्ग-युक्त समाज ने हमारे देश में ऐसे मनीषी भी पैदा किये जो भाग्य के मुकाबले में मनुष्य का पक्ष लेते थे—

"दैवसंपादितो दोषो मानुषेण मयाजितः", जो शास्त्रों में लिखे हुए धर्म की पर्वाह न करके घोषित करते थे, "न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्", जिन्होंने ज्ञान और प्रेम के लिये विशेषाधिकार की दीवालें तोड़कर कहा था—

"ये मानवाः पापकृतास्तु सर्वदा
सदा दुराचार रता विमार्गगाः।
क्रोधाग्निदग्धाः कुटिलाश्च कामिनः
सप्ताहयज्ञेन कलौ पुनन्ति ये।"

भारतीय साहित्य में विचारधारा का संघर्ष छिपा नहीं है। यह सङ्घर्ष भौतिक जीवन के सङ्घर्ष को ही प्रतिबिम्बित करता है। लेकिन नवीन जी के लिये वे साहित्यकार जो संसार को असत्य मानते हैं और वे जो इसी संसार में अपना जीवन सुखी बनाने को कहते हैं, वे जो समाज के अधिकारी वर्गों का हित करने वाली व्यवस्था की हिमायत करते हैं और वे जो अधिकारहीनों का पक्ष लेते हैं, वे जो भाग्यवादी हैं, नरक का भय दिखाते हैं, शिक्षा संस्कृति को अपना इजारा समझते हैं और वे जो भाग्य को चुनौती देते हैं, स्वर्ग नरक मनुष्य के मन ही में मानते हैं, जो शिक्षा और संस्कृति पर जनसाधारण का हक़ मानते हैं, नवीनजी के लिये ये दोनों तरह के विचारक और साहित्यकार क्लासिवादी हैं, दोनों ही वर्ग-हितों से परे हैं, दोनों ही समाज में रहते हुए जल में कमलपत्र की तरह उत्पादन सम्बन्धों से मुक्त हैं।

इस बात से सन्तुष्ट होकर कि दर्शन और काव्य में वर्गहित की बात असिद्ध हो गई है, नवीनजी कहते हैं, "और चलिये। अजन्ता के गुहाचित्र किस श्रेणी के हित-प्रतिबिम्बक हैं? यों मारूँ तीर, लगे तो तीर, नहीं तो तुक्का

है ही—इस प्रकार से काम नहीं चलेगा। मैं यह मान लेता हूँ कि कुछ देशों में, कुछ काल में, साहित्य और कला श्रेणी-हित-प्रतिबिम्बक बनकर रह गये हों। पर, यूरोप के चार-छः छोटे-मोटे देशों में प्रवाहित तत्कालीन धारा को शाश्वत सैद्धान्तिक सत्य का स्वरूप दे देना भूल है।"

मानो अजन्ता की चित्रकारी भारत के लिये अनोखी हो, दूसरे देशों में इस तरह की "वर्गों से परे" कला का जन्म ही न हुआ हो। लेकिन अजन्ता में जो सौन्दर्य-प्रियता दिखाई देती है, उस सौन्दर्य से मनुष्य में जो संस्कार उत्पन्न होते और पुष्ट होते हैं, वे उस वर्ग के हैं जो अवकाश भोगी हैं, जो ऋग्वेद के ऋषि की तरह श्रम को इन्द्र का सखा नहीं मानता, जिसके लिये सौन्दर्य श्रम में नहीं है बल्कि जीवन को दूर से देखने में है, दूसरों के परिश्रम का फल चखने में है, जिसके लिये नारी सबसे पहले भोग की वस्तु है और जिसने कालिदास के विरही यक्ष की लगन को—एक नारी व्रत को—अभी पहचाना नहीं है।

अजन्ता के चित्र हमारी सांस्कृतिक विरासत का बहुमूल्य अंश है। जो लोग प्राचीन संस्कृति को देवमूर्ति बनकर उसकी पूजा करते हैं, उनके लिये वह संस्कृति वर्ग ही नहीं देशकाल से भी परे हो तो क्या आश्चर्य! लेकिन उस पर अभिमान करते हुए उसे विकसित करना हो तो उसके चित्रकौशल से शिक्षा लेकर आज की कला में श्रम के महत्व, नारी के सौन्दर्य के साथ उसके व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा भी करनी होगी। यह नयी कला जनसाधारण के हितों को, उनके भावों-विचारों को प्रतिबिम्बित करेगी।

लेकिन नवीनजी पक्षावलम्बी साहित्य के विरोधी नहीं है, उसके निर्माण में विशेष सावधानी बरतनी चाहिये, यह बात भी वह एक पैराग्राफ में बता देते हैं। जो भारतीय संस्कृति वर्गों का पक्षपात करने से परे हो, उसके समर्थक नवीनजी पक्षावलम्बी साहित्य का समर्थन करें, इसके लिये हमें उनका कृतज्ञ होना चाहिए। रही सावधानी की बात, सो वह अत्यन्त आवश्यक है वर्ना रामायण में क्षत्रिय नायक देखकर हम पूछ बैठेंगे कि यह ग्रन्थ क्या क्षत्रिय श्रेणी का उन्नायक है।

नवीनजी मार्क्सवाद के एक सिद्धान्त को बिना किसी शर्त के स्वीकार

करते हैं, वह है किसी देश या जाति के गुण विशेष का सिद्धान्त। वह कहते हैं, "किसी देश के साहित्य की आलोचना उस देश के गुणविशेष की ओर दृक्पात किये बिना की ही नहीं जा सकती।" और भारत की विशेषता है, क्वासिवाद अर्थात् निर्गुणवाद। इस तरह नवीनजी ने सगुण मार्क्सवाद से अपने निर्गुण क्वासिवाद को सिद्ध कर दिया।

अपने समर्थन में नवीनजी ने स्तालिन से एक उद्धरण भी दिया है जिससे भारतीय संस्कृति का अपना एक गुण है, यह बात आप मान लें। नवीनजी पाठक के सामने यह प्रश्न रखते हैं कि वह दृग्विषय क्या है, वह कौनसा तत्व है, जो इस विभिन्न-प्रदेश वाले राष्ट्र में एक राष्ट्रीयता का द्योतक है। संक्षेप में उत्तर है, आत्म-दर्शन, सत्-वरण, बन्धन-मोक्ष—यही इस देश की विशेषता है।

बन्धनमोक्ष राष्ट्रीयता का द्योतक है। मानों बन्धनमोक्ष की भावना भारत ही में पाई जाती है, सामन्ती समाज के लाखों पच्छिमी उपासक उसके लिये दीवाने न रहे हों। भारत की यह विचित्र राष्ट्रीयता है जो भारत में जन्म लेने को ही बन्धन समझती है और जितनी जल्दी हो सके, भारत की धरती छोड़कर मुक्त हो जाने की सलाह देती है। नवीनजी चाहते हैं कि आज के साहित्यकार भी उसी राष्ट्रीयता को भजें।

आगे चलकर नवीनजी इस प्रश्न का जबाव देते हैं। सारे संसार में यह मोक्षकामना मिलती है, तब भारत की विशेषता क्या है? विशेषता यह है कि "हमारा मानस, हमारा इतिहास, हमारी संस्कृति हमारे वैदिक जैन बौद्ध विचार, सब कुछ अन्तर्मुखी एवं अन्तर्दर्शन के अभ्यासी हैं।"

नवीनजी ने प्रमाण में सिर्फ़ कठोपनिषद् से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करके समूचे भारतीय साहित्य को अन्तर्मुखी साबित कर दिया है। लेकिन भारतीय साहित्य अंतर्मुखी है, भारत की जनता स्वभाव से ही अध्यात्मवादी है, वह भौतिक जीवन को मिथ्या मानती है आदि धारणाएँ किसकी फैलाई हुई हैं? ये धारणाएँ उन लोगों ने फैलाई हैं जो भारतीय जनता के भौतिक जीवन से लाभ उठाते थे, जो हमारी जनता के कठोर परिश्रम का फल लूटकर उसे अकाल और महामारी के हवाले करते रहे हैं। नवीनजी ने भारत की जो राष्ट्रीयता

खोज निकाली है, उसके सबसे अधिक समर्थक ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ही में रहे हैं। नवीनजी ऊपर से भारतीय संस्कृति की चाहे जितनी दुहाई दें, उनका अन्तर्मुखी दृष्टिकोण है पच्छिमी मनोविज्ञान ही की देन। इस तरह के अध्यात्मवादियों की विलायती संस्कृति का पर्दाफ़ाश करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बिल्कुल ठीक लिखा था, "योरप ने कहा—'भारतवासी बड़े आध्यात्मिक होते हैं; उन्हें भौतिक सुख-समृद्धि की परवा नहीं होती।' बस, दिखा चले अपनी आध्यात्मिकता ; यह हमारी चित्रविद्या की आध्यात्मिकता, यह देखिए हमारी मूर्तिकाला की आध्यात्मिकता।"

नवीन जी ऐसे ही अध्यात्मवादी हैं जो पच्छिम के अन्तर्मुखी मनोविज्ञान के समताल पर भारतीय संस्कृति की व्याख्या करते हैं।

शुक्लजी के अनुसार, "भारत में कविता इस गोचर अभिव्यक्ति को लेकर ही बराबर चलती रही है और यही अभिव्यक्ति उसकी प्रकृत भूमि है।"

और भी—"मनोमय कोश ही प्रकृत काव्य भूमि है, यही हमारा पक्ष है।"

शुक्लजी के लिये "अभिव्यक्ति के क्षेत्र में स्थिर सौन्दर्य और स्थिर मंगल कहीं नहीं; पर सौन्दर्य की गति भी नित्य और अनन्त है और मंगल की भी। गति की यही नित्यता जगत् की नित्यता है।"

ये वाक्य किसी जड़वादी विचारक मार्क्स या लेनिन के अनुयाई ने नहीं लिखे। ये वाक्य परम आस्तिक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखे हैं। मानना होगा कि जगत् की नित्यता से उन्होंने जो साहित्य का सम्बन्ध जोड़ा है, वह निहायत बुद्धिभ्रम फैलाने वाला है और क्वासि की टेर में खलल डालने वाला है। इसलिये हम यही मानेंगे कि हमारी चित्रविद्या भी आध्यात्मिक है, हमारी मूर्तिकला भी आध्यात्मिक है और दर्शनशास्त्र पर तो आध्यात्मिकता का इजारा है ही। जो यह न माने वह भारतीय संस्कृति का शत्रु है।

(४)

मार्क्स और लेनिन के साहित्य सम्बन्धी सिद्धान्तों में से वर्ग सिद्धान्त को असिद्ध करके नवीन जी ने साहित्य स्रष्टा के लिये दस गुण जरूरी बतलाये हैं। व्यवहार की कसौटी पर परखें तो मानना होगा कि इन गुणों का जितना

सुन्दर प्रतिनिधित्व कवि नवीनजी ने किया है उतना अन्यत्र दुर्लभ है।

साहित्य स्रष्टा में पहला गुण होना चाहिए, स्वाध्याय। नवीन जी की भूमिका इसका प्रमाण है। उन्होंने इस स्वाध्याय-निरत निबंध में न सिर्फ द्वंदात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद की जड़ता और अनैतिहासिकता प्रमाणित कर दी है बल्कि समूचे भारतीय साहित्य में—"हमारे वैदिक जैन बौद्ध विचार" में—बिना किसी ईर्ष्याद्वेष या भेदभाव से काम लिये क्वासि की टेर सुन ली है। इसके साथ ही टोनों-टटकों, यंत्रों-मंत्रों के संसार में उन्होंने जो नया जीवन डाल दिया है, वह नवीन जी के स्वाध्याय का प्रतीक तो है ही, भारतीय संस्कृति के विकास में नया अध्याय भी है।

साहित्य-स्रष्टा में दूसरा गुण होना चाहिये—कल्पनाशक्ति। देखिये, कल्पनाशक्ति के बल पर नवीनजी किस तरह संसार का भ्रम जाल दूर करते हैं। कहते हैं,

"पियमय तिय, तियमय पिय हों जब तब हों संभ्रम दूर, रे,
दूर करो पथ के अन्तर की यह अटपट जंजाल, रे।"

पिय और तिय का भेद करना भौतिकवादी विषय है। नवीनजी के लिये पिय और तिय का भेद भ्रम ही नहीं है, संभ्रम है। उसे तो अवश्य दूर कर देना चाहिए।

और भी—

"जग नया लग रहा; पर तुम तो लगती हो बहुत पुरानी सी।"

जगत् तो भ्रम है और पुराना भ्रम है फिर भी नवीनजी को वह नया लगता है। कारण कि यह भ्रमवाद उनके लिये अब भी नया है। और संबोधित देवी पुरानी सी लगती हैं, कारण कि वह जगत् की तरह भ्रम नहीं हैं।

स्नेह और तेल का सम्बन्ध पुराना है। एक नया कल्पनाशील रूपक देखिये, "मेरा स्नेह, तैल बन जाता, औ' बहता बन पानी-पानी"। और कवियों ने तो स्नेह का प्रयोग दो अर्थों में किया था; नवीन जी ने स्नेह को तेल बना कर फिर उसे पानी-पानी कर दिया है। लेकिन दूसरी जगह कहते हैं,

"रस - सार कंठ का सूख चला,
सर ज्यों अवृष्टि के संकट में।"

अभी तक अर्थ-सङ्कट, धर्म-सङ्कट, अन्न-सङ्कट आदि की बात सुनी थी लेकिन नवीनजी ने अवृष्टि के सङ्कट की कल्पना कर के अनर्थ-सङ्कट, अधर्म-सङ्कट, निरन्न-सङ्कट आदि के लिये रास्ता साफ कर दिया है। यह सब कल्पना शक्ति का चमत्कार है।

एक सङ्कट और है—

"फिर कब तुम आओगे सम्मुख, ओ जीवन - नट ?
मेटो, हे मेटो, यह विकट यवनिका - सङ्कट।"

यवनिका-सङ्कट के कारण जीवन-नट दर्शन नहीं देते। यह सङ्कट दूर हो जाय—यानी यवनिकाओं की कमी न रहे—तो जीवन-नट तुरन्त प्रकट हो जायँ। किसी ने कहा भी तो है—"करुणामय को भाता है, तम के पर्दे में आना।"

साहित्य स्रष्टा का तीसरा गुण है—शब्द-सामर्थ्य। सब सामर्थ्यों के मुकाबले में यह सामर्थ्य नवीनजी में सबसे अधिक है। कहीं तो उनकी वाणी संस्कृत गर्भित होकर मेघमन्द्रस्वर सी क्वणित हो उठती है, यथा,

"स्वनित लयमय, ताल-झंकृत, क्यों न
अभिनव स्वन उठें खिल ?
आज लहरें तब अमर स्वर मृत्यु—
तैर्यत्रिक क्वणन में !"

ताल से स्वनों का झंकृत होना खूब है। और स्वनित लयमय स्वनों का खिल उठना कमाल है। स्वनित स्वन की तरह उनके गद्य में—"यह परम श्लाघ्य, चरम उन्नति-प्रेरणादायिनी, नरनारायणकारिणी प्रेरणा प्रतिबिंबित होती है तो...."। प्रेरणा को परमश्लाघ्य कहने पर भी उसकी प्रशंसा में इससे अधिक क्या कहा जाय कि वह प्रेरणादायिनी है। इसी तरह गद्य-दायक गद्य, पद्य-दायक पद्य और साहित्य-दायक साहित्य रचा जा सकता है।

कहीं पर मुहावरों का चमत्कारी प्रयोग देखते ही बनता है—

"मत छिड़को लवण, सजन हैं मेरे गात जले !"

इसे कहते हैं जले पर नमक छिड़कना। उर्दू कवि जिसे रोज़मर्रा कहते हैं, उसकी बहार देखते ही बनती है,

"मेरी और तुम्हारी तो है, युग-युग की यारी सी।"

और अंग्रेजी वाले जिसे ओनोमैटोपिया कहते हैं, उसकी अनुपम मिसाल यह है—

"किर - किर - किर, चिंवँ - चिंवँ - चिंवँ, बोल रहे शैल विहग।"

जहाँ तहाँ ग्रामगीतों ने रस का स्रोत प्रवाहित कर दिया है—

"हमरे बालम कौं कोउन जगइयो, कोउ जनि गइयो मलार, रे,
कँगनन की खनखन जनि करियो, ना पायल झनकार, रे।"

मलार गाकर बालम को जगाना संगीत शास्त्र में भी इज़ाफ़ा है।

साहित्यस्रष्टा में चौथा गुण होना चाहिये, मानव-स्वभाव-अध्ययन। पहले गलती करना, फिर पछताना, यह मनुष्य मात्र का धर्म है। नवीन जी कहते हैं,

"क्यों न अव्यभिचार की चिर रीति जीवन में निबाही?
क्यों तड़प कर, एक क्षण को, शृङ्खला टूटी वृथा ही?"

अब पछताये होत क्या जब चिड़ियाँ चुग गईं खेत। लेकिन सारा दोष पछताने वाले का भी नहीं है—

"तुमने देखा था यूँ, गोया, कुछ बहुत पुरानी यारी थी।"

इस तरह देखना भी तो मानव समाज के कुछ सदस्यों का विशेषाधिकार है।

पाँचवा गुण है—यथातथ्यग्राह (Grip on fundamentals)। जैसे ग्राह ने गज का पैर पकड़ा था कि बेचारा फन्दे से तब तक न निकल पाया जब तक भगवान ही मदद करने के लिये न दौड़े। नवीन जी भी "फंडामेंटल्स" के ग्रहण करने में विश्वास करते हैं, यथा—

"चरण चुंबन दान में अब मान कैसा? प्राण मेरे,
झिझक कैसी? खीझ क्यों? यह विरति क्यों? अभिमान मेरे।"

कारण स्पष्ट है। प्राण और अभिमान अपने फंडामेंटल्स को कवि के ग्रिप में नहीं आने देना चाहते। और भी,—

"आज वक्ष, माथे, कटि, उर पर है
चीनांशुक तरल लाजमय,
नेह सफल तब जान सलोनी

जब हो जाए इस पट का लय"।

यह भी निपट यथातथ्य ग्राह की ही बात है।

छठा गुण कला-सौष्ठव है। वह सौष्ठव ऊपर की सभी मिसालों में है। सातवाँ गुण है स्थिति-सृजन-शक्ति। स्थिति क्या परिस्थिति ऐसी पैदा की जा सकती है कि सङ्गदिल को भी पिघलना पड़े। हालत यह है कि—

"सूखा कंठ, ओठ पर पपड़ी, अन्तरतर है पका पका सा।"

इसलिये,

"मेरी रसभीनी श्यामा तुम, बरसो मम मनवन आँगन में।"

आठवाँ गुण है, जीवन-चित्रण सामर्थ्य। जीवन की सार्थकता जितनी रोने में है, उतनी और किसी काम में नहीं, इसलिए,

"छेड़ो न,—रंच रो लेने दो,
मेरे मन की हो लेने दो,
हिचकियाँ उठें, रोको न इन्हें
जल से लोचन धो लेने दो।"

लेकिन यह रोना किसी उद्देश्य से नहीं है। कला कला के लिये की तरह यह रोना रोने के लिये है। इसलिये कवि कहता है—

"कोई न कभी सुन पायेगा
बैठा हूँ कोने में छुपके।"

नवाँ गुण समाधि-सामर्थ्य है। ऐसी समाधि जो टूटे नहीं, मृत्यु से ही मिलती है। भौतिक जीवन बिताते हुए जो समाधि लगाते हैं, उनकी समाधि अस्थायी होती है। इसलिये—

"डाल श्यामल केश मुख पर और चादर ओढ़ काली,
यह पधारी मृत्युरानी छद्म भूषावेश वाली।"

जीवन की परम सफलता है मृत्यु।

अन्तिम गुण है आर्जव ईमानदारी सो उसके बारे में शंका करना भी पाप होगा। कवि स्पष्ट ही कहता है—

"यौवन यों बीता जाता है,
हिय पल - पल में अकुलाता है,

मुझको रहरह के इधर उधर—
उन्मत्त भाव भटकाता है।"

इस तरह साहित्य - स्रष्टा के दसों गुण नवीनजी में विद्यमान हैं। अब मार्क्स और लेनिन का बताया हुआ एक गुण—जनता का पक्ष लेना—न हुआ तो क्या। साहित्य स्रष्टा को पक्षपात से परे ही रहना चाहिये।

(५)

"रश्मि-रेखा" की भूमिका में नवीन जी अनदेखे की टोह के मरने पर अफसोस प्रकट करते हुए कहते हैं, "आज के इस आस्थाशून्य युग में अन-देखे की टोह मृतप्राय हो गई है। जीवन के क्षेत्र को हम केवल प्रत्यक्ष की परिखा से सीमित कर बैठे हैं। अप्रत्यक्ष की हमारी प्यास बुझ गई है। यदि अप्रत्यक्ष पिपासा लगी रहती, तो जगजीवन इतना विशृङ्खल, इतना उन्मत्त, इतना स्वनाशोन्मुख न होता।....मनुष्य धन से तृप्त नहीं होता, धनमात्र से ही, वैभव से, वित्त से ही उसकी तृप्ति नहीं होती; तृप्ति के लिये तो परपार की पिपासा लगनी चाहिये और उसकी पूर्ति होनी चाहिए। जनजीवन में वह प्यास लगे—ऐसी मेरी इच्छा है। यदि वह तृषा जगी तो धन की भूख—अर्थात् समाज को, मानव को, अपने आपको चबाकर निगल जाने की यह राक्षसी भूख—मिट जायगी और इस प्रकार जीवन में संतुलन का आविर्भाव होगा।"

प्रत्यक्ष जीवन में दुख क्यों है? इसलिये कि अप्रत्यक्ष की चाह मिट गई है। इसलिये दुख दूर करने के लिये क्या करना चाहिये? प्रत्यक्ष में दुख के कारण खोजकर उन्हें निर्मूल करने के बदले अप्रत्यक्ष से लौ लगानी चाहिए। लेकिन क्या प्रत्यक्ष जीवन के दुखों के कारण प्रत्यक्ष जीवन में नहीं हैं? धन की भूख, मनुष्य में अपने आपको चबा कर निगल जाने की भूख, क्या उन पैंतीस लाख नरनारियों में, जो बंगाल के अकाल में कालकवलित हुए, उसी तरह विद्यमान थी जैसे उन राक्षसों में जो उनकी मृत्यु से करोड़ों रुपये धन कमा रहे थे? आज प्रत्यक्ष जीवन में हम देखते हैं कि एशिया के करोड़ों नरनारियों के श्रम का फल जो लूटते थे, उन पच्छिमी आततायियों के विरुद्ध देश देश के लोग संगठित होकर सङ्घर्ष कर रहे हैं। कौन किसको निगल जाना चाहता है?

फ्रांस वियतनाम को या वियतनाम फ्रांस को ? अमरीका कोरिया को या कोरिया अमरीका को ? अगर हम स्वाधीनता के लिये लड़ने वाली जनता और साम्राज्यवादी डाकुओं में भेद न करके आज के मानवमात्र को धन की भूख से पीड़ित और अपने को चबा जाने के लिये उद्यत देखते हैं तो हम प्रत्यक्ष जीवन के संघर्ष पर पर्दा डालते हैं और अन्याय के विरुद्ध लड़ने वाली जनता के प्रति खुद अन्याय करते हैं।

ब्रिटेन, फ्रान्स और अमरीका के परधनलोलुप डाकुओं और उनके देशी सहायकों के विरुद्ध एशिया की सजग जनता के लिये नवीन जी का कौनसा संदेश है ? यह कि अप्रत्यक्ष की पिपासा लगी रहती तो जगजीवन इतना स्वनाशोन्मुख न होता ? लेकिन अब नाश जनजीवन का नाश करने वालों का हो रहा है और उन्हें इस नाश से अप्रत्यक्ष की टोह नहीं बचा सकती।

नवीन जी जब इस युग को आस्थाशून्य कहते हैं तब यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आज हिन्दी साहित्य में प्रत्यक्ष जीवन की समस्याओं के प्रति जो रुचि बढ़ रही है, वह युग का दोष या गुण है, उसके लिये हिन्दी के आलोचकों को कोसना युग को ही कोसना है। लेकिन यह युग आस्थाशून्य नहीं है। आज से पहले मनुष्य को अपने उज्वल भविष्य में कभी इतनी आस्था नहीं थी, उसे अपनी शक्ति से अपना भाग्य गढ़ने पर कभी इतना भरोसा नहीं था। वह अपने क्लेशमय जीवन को बदलने के लिये बड़े से बड़े बलिदान करने को तैयार है और बलिदान कर रहा है। हाँ, उसकी यह आस्था मिट गई है कि उसके सुख-दुख का भाग्य-विधाता प्रत्यक्ष जीवन में नहीं है और अप्रत्यक्ष की साधना करने से उसका प्रत्यक्ष जीवन सुखी हो जायगा। इस आस्था का मिटना उसके नये जीवन का लक्षण है। लेकिन प्रत्यक्ष संसार के इस विराट् जनजागरण से नवीन जी को इतनी विरक्ति है कि उन्हें संसार मृत्युपाश में फँसा हुआ दिखाई देता है। उनके अनुसार "आज का जग विततस्य मृत्योः पाशम्--फैली हुई, विस्तृत मृत्यु के पाश में फँसा हुआ है।" अप्रत्यक्ष में जो आस्था थी, उसकी मृत्यु होने से प्रत्यक्ष संसार ही मृत्यु के पाश में फँस गया !

नवीन जी ने "रश्मि रेखा" की भूमिका में सत्साहित्य की व्याख्या करते हुए यह भी कहा है, "वही साहित्य सत् है जो मानव में निरलस एवं निस्वार्थ

कर्मरति जाग्रत् करता है। वही साहित्य सत् है जो मानव को सर्वभूतहित की ओर प्रवृत्त करता है।"

लेकिन किस तरह की कर्मरति ? इन कर्मों का प्रत्यक्ष जीवन से क्या संबन्ध है ? यदि अप्रत्यक्ष की पिपासा जगाना सर्वभूतहित साधने का मूल उपाय है तो कर्मरति वैराग्य का ही दूसरा नाम तो नहीं है ? और सर्वभूतहित में अगर मजदूर और पूँजीपति के हित टकराते हैं, चर्चिल और आइजनहावर तथा एशियाई जनता के हित टकराते हैं तब क्या हम अप्रत्यक्ष की साधना करें ?

इस तरह की समस्याएँ उठाने पर नवीन जी प्रसन्न नहीं होते। न चाहने पर भी हिन्दी साहित्य में ये तमाम समस्याएँ उठाई जाने लगी हैं। नवीन जी ने इनसे क्षुब्ध होकर कम से कम गद्यकाव्य रचने की प्रेरणा अवश्य पायी है। "अपलक" की भूमिका में कहते हैं, "उपयोगिता, उपादेयता, प्रगतिशीलता, अपलायनवादिता, सामन्ती विचारधारावरोधक, विद्रोहवादिता, औद्योगिक पूंजीवाद-जन्म, संवर्त्तोत्तेजक झण्डोत्तोलन, ले लो खड्ग-पटक दो-म्यान-मय क्रान्ति-आवाहन, दन्द्रम्यमाना-दिग्-दिङ् नाद-प्रेरणा, दुर्दान्ताक्रान्तक—जन्म-दन्तोपाटन संदेश-वहन-शीलता आदि सत् काव्य-सल्लक्षण मेरे इन गीतों में कठिनता से मिलेंगे।"

पता नहीं नवीन जी ने "आज खड्ग की धार कुंठिता" "कवि कुछ ऐसी तान सुना जा" आदि पंक्तियाँ याद करके यह वाक्य लिखा है या उन्होंने दूसरे हिन्दी कवियों की रचनाओं पर यह व्यंग्य किया है।

नवीन जी वर्ग और समाज-व्यवस्था से मानव कर्म को एकदम अतिरिक्त नहीं मानते। यही नहीं, वह वर्ग और मानवकर्म के संबन्ध जोड़ने को एक हद तक प्रगतिशील भी मानते हैं। "अपलक" की भूमिका में कहते हैं, "जीवन-तत्व को, मानव की अभिव्यक्ति प्रेरणा को, उसकी कर्मरति के स्रोत को इस प्रकार सामन्त-पूंजी-शोषण-वर्ग-वादों और आर्थिक पदार्थवादों की चौखट में जड़ने का प्रयास मानव समाज के तत्व-निर्णय-प्रयत्न के इतिहास में एक महत्वपूर्ण विकास अवश्य है। परंतु यदि इस ओर अत्यधिक खींचातानी की जायगी तो हम यथार्थ से दूर चले जायँगे।"

इससे स्पष्ट है कि नवीन जी पदार्थवाद के विरोधी नहीं हैं, वह केवल

अत्यधिक खींचातानी के विरोधी हैं। वह यथार्थ से दूर नहीं जाना चाहते, इसलिये वह पदार्थवाद से मनुष्य-चिन्तन को सीमित् करने के पक्ष में नहीं हैं। लेकिन वह कौनसा यथार्थ है जिससे नवीन जी दूर नहीं जाना चाहते लेकिन पदार्थवाद जिससे दूर ले जाना चाहता है ?

वह मिसाल देते हैं कि मनुष्य के मन में चिन्ता, क्रोध या भय का तीव्र संचार होने पर मानव शरीर की कुछ ग्रंथियाँ द्रव्य विशेष हमारे रक्त में प्रवाहित करती हैं। नवीन जी पूछते हैं, "इस सत्य को लेकर यदि हम यह प्रतिपादित करने लगें कि भय या चिन्ता या क्रोध एड्रीनल और पैंक्रियस ग्रंथियों के एड्रीनेलीन और इन्सुलीन स्राव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है—यदि इस प्रकार की सिद्धान्त-स्थापना हम करने लगें—तो क्या वह बात तर्क-संगत होगी ?"

इस तरह की सिद्धान्त स्थापना वही करेगा जो वैज्ञानिक भौतिकवाद के बदले पच्छिम के पूँजीवादी मनोविज्ञान का समर्थक हो। भय, चिन्ता और क्रोध का संचार शरीर का अस्तित्व न रहने पर नहीं होता, वह शरीर रहने तक ही सम्भव है, इसलिये न तो यह साबित होता है कि भय, चिन्ता और क्रोध अतीन्द्रिय है और न यह कि वे स्रावमात्र हैं। गोचर जगत् से अतिरिक्त यथार्थ की सिद्धि के लिये नवीनजी ने भय, क्रोध और चिन्ता की मिसाल चुनकर पदार्थवाद के पक्ष का ही समर्थन किया है।

नबीनजी पदार्थवाद को एकाङ्गी साबित करने के लिये दूसरा तर्क देते हैं, "निश्चय ही मानव रोटी है,—अन्नं वै प्राणाः—पर वह रोटी ही है, ऐसा मानना असत्य और अतार्किक है। मानव में परिस्थितियों के विपरीत भी कर्म करने का सामर्थ्य विद्यमान है।"

मानों पदार्थवाद कहता हो कि मानव रोटी ही है ! और अगर रोटी ही नहीं है तब उसे प्रत्यक्ष गोचर जगत् से परे अनन्त चेतना का अंश होना ही चाहिए। पदार्थवाद कहता है, मनुष्य दिमाग से ही सोचता है; सोचने का सामर्थ्य दिमाग़ नाम के पदार्थ का गुण है। लेकिन नवीनजी का तर्क यह है कि अगर तुम दिमाग़ नाम के पदार्थ को स्वीकार करते हो तो चिंतन-क्रिया अस्वीकार करते हो। इसलिये चिंतन-क्रिया भौतिक जगत् को मानते हुए सम्भव

नहीं है, उसे भौतिकता से परे ही मानो, यह उनका आग्रह है।

यदि यह मान लिया जाय कि मानव-चिन्तन भौतिक जीवन से परे है तो साहित्य में "पदार्थवादी मान-दंड असत्य, अपथार्थ एवं भ्रामक दिखाई देंगे।" मिसाल के लिये उन्होंने शेली की कविता "ओड टु दि वेस्ट विन्ड" चुनी है। उसकी अन्तिम दो पंक्तियाँ उद्धृत करके नवीनजी पदार्थवादी मानदंडों को अयथार्थ साबित करते हुए कहते हैं, "यार लोग, अपने अधकचरे तर्क का आश्रय लेकर कह सकते हैं, लो, यहाँ शेली पलायनवादी हो गया है।"

पदार्थवादियों द्वारा शेली के इस पलायनवाद का खंडन कैसे होगा, यह दिखाने के लिये उन्होंने एक पैरा ही लिख दिया है। लेकिन शेली इसी कविता में वसन्त की आशा लगाकर बैठ रहने को नहीं कहता बल्कि अपनी कविता से मनुष्यों में एक नया जीवन लाने की बात भी कहता है। नवीनजी के अनुसार जो कवि अपनी कविता से नये जीवन में विश्वास जगायेगा, भविष्य में मनुष्य के विश्वास को दृढ़ करेगा, उसे भी पदार्थवादी यार लोग अधकचरे तर्क से पलायनवादी साबित कर देंगे। लेकिन इस अधकचरे तर्क की सृष्टि करने वाला कौन है, पदार्थवादी या नवीनजी ?

शेली ने भविष्य में आशा ही नहीं प्रकट की, उसने उस आशामय भविष्य के लिये संघर्ष करने को भी कहा है। "मास्क ऑफ अॅनार्की" नाम की कविता में उसने ब्रिटेन के मज़दूरों को सम्बोधन करके कहा है—

"Rise like lions from your slumber,
In unvanquishable number,
Shake to earth your chains like dew,
Which in sleephad fallen on you,
Ye are many, they are few."

(अपनी नींद तजकर शेरों की तरह उठो, अजेय संख्या में उठो, धरती पर ओस की बूँदों की तरह अपनी ज़ंजीरें गिरा दो जो सोते में तुमने पहनली थीं। तुम असंख्य हो, वे मुट्ठी भर हैं।) लेकिन यह तो खड्ग-पटक-दो-म्यान-मय क्रान्ति आवाहन हो गया।

फ्रान्सीसी राज्य क्रान्ति के प्रबल समर्थक, ब्रिटिश मज़दूर वर्ग के मित्र,

यूरोप के स्वाधीनता आन्दोलन के साथी, अंग्रेज़ी भाषा के अन्यतम गायक शेली पर नवीन जी पदार्थवादियों से जब पलायनवादी होने का आरोप लगवाते हैं, तब यह समझना कठिन नहीं है कि वह खुद शेली को फ्रांसीसी राज्यक्रांति ब्रिटिश मजदूर वर्ग के संघर्ष और यूरोप के स्वाधीनता आन्दोलन से पलायन करने वाला मानते हैं। उनके लिये उस शेली का ही महत्त्व है जो प्रत्यक्ष जगत् से अतिरिक्त यथार्थ के गीत गाता है।

हिंदी में सामन्तवाद साम्राज्यवाद का विरोध होते देखकर नवीनजी आपे से बाहर हो जाते हैं और उस विरोध को प्रतिबिंबित करने वाले साहित्य को अवैज्ञानिक करार दे देते हैं। उनके अनुसार "सामन्त-साम्राज्य-शोषण-वर्ग विरोध के नाम पर जो चक्कर डण्ड पेले जा रहे हैं वे वास्तव में इतने अवैज्ञानिक हैं कि जिसकी सीमा नहीं।"

मानों नवीनजी वास्तविक विज्ञान के पक्ष में हों, मानों वह सामन्त-साम्राज्य-शोषण-वर्ग विरोध के प्रवल समर्थक हों, केवल उसके नाम पर चक्कर डंड पेलने के विरोधी हों।

लेकिन नवीन जी के लिये विज्ञान है क्या? क्या वह मान-वव्यवहार से अनुभव को परखने में विश्वास करते हैं? जो संसार की गोचरता को ही भ्रम मानता है और उस भ्रम की सत्यता को ही व्यवहार से परे मानता है, उसके लिए विज्ञान तभी सत्य हो सकता है जब वह भी व्यवहार को कसौटी न मानकर प्रत्यक्ष जगत् को भ्रम कहने लगे। पूँजीवादी विज्ञान के ह्रासकाल में ऐसे विज्ञानियों की कमी नहीं रही जो संसार को मिथ्या मानने लगे हों। भारत के मायावादियों को सहारा मिला। पच्छिमी विज्ञान के विदेशीपन से जरा भी विचलित न होकर वे उसे गले लगाने दौड़ पड़े। मॉक्र्सवाद को असिद्ध करने वाले इन विज्ञानियों का हवाला देकर नवीन जी कहते हैं, "जिस वैज्ञानिक भौतिकवाद को वे बन्धु ध्रुव सत्य माने बैठे हैं, उसकी ऐतिहासिक रूप-रेखा को सँवारने वाला उन्नीसवीं शती का वह भौतिक विज्ञान है जिसका स्वरूप आज नितान्त रूप से परिवर्तित हो गया है।"

भौतिक विज्ञान में ऐसा क्या परिवर्तन हो गया है जिससे मार्क्सवाद अब सत्य नहीं रहा? नवीनजी के अनुसार मार्क्स ने "भौतिक विज्ञान (Physics)

विषयक इतिनैश्चित्यमय यान्त्रिक सिद्धान्त अपनाया था ? जो यांत्रिक सिद्धान्त अपनायेगा, उसका दर्शन भी यान्त्रिक होगा यह पक्की बात है।

लेकिन कहाँ किस रूप में मार्क्स ने फ़िज़िक्स का यान्त्रिक सिद्धान्त अपनाया है, नवीनजी ने यह नहीं बतलाया।

भौतिकवाद पर मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन स्तालिन की कोई भी रचना पढ़ने से यह पता चल जायगा कि वे यांत्रिक भौतिकवाद के विरोधी थे। लेकिन यह यांत्रिकता थी किस बात में ? यह यांत्रिकता इस बात में थी कि प्रकृति का कोई इतिहास नहीं है, वह अपरिवर्तनशील है और तंग दायरों में उसकी गति सीमित है, न्यूटन के नक्षत्र अनादि और अनन्त हैं, लिनायास के प्राणी अपरिवर्तनशील किस्मों के हैं। इसके विपरीत वैज्ञानिक भौतिकवाद का कहना था कि प्रकृति काल से परे नहीं है बल्कि उसका इतिहास है, नक्षत्रों और प्राणियों का उद्‌भव विकास और लय होता है। यांत्रिकता इस बात में थी कि भौतिक विकास सीधी रेखा में होता है, बीती हुई मंजिलें दोहराई जाती हैं, परिमाण से गुण में परिवर्तन नहीं होता, विकास-क्रम क्रम-भंग कर के हर्नी इत्यादि। इसके बदले वैज्ञानिक भौतिकवाद ने सिखाया कि विकास सीधी रेखा में न होकर ऊपर की ओर घुमावदार ढंग से होता है, बीती मंजिलें दूसरे ढङ्ग से, दूसरे पैमाने पर दोहराई जाती हैं, विकास-क्रम में क्रम-भंग भी होता है, परिमाण से गुण में तबदीली होती है, विकास एक गति से न होकर झटके से, क्रान्तियों द्वारा भी होता है। यांत्रिकता इस बात में थी कि "मानव तत्त्व" सामाजिक सम्बन्धों से परे हैं। वैज्ञानिक भौतिकवाद "मानव तत्त्व" को हवाई तरीके से न देखकर ऐतिहासिक "समाज-सम्बन्धों" का समुच्चय मानता था।

फ़िजिक्स से वैज्ञानिक भौतिकवाद ने यांत्रिकता न सीखी थी बल्कि परिमाण से गुण में तब्दीली के सिद्धान्त के प्रमाण उसमें पाये थे। जैसा कि एंगेल्स ने कहा था, "फिजिक्स में····हर तब्दीली परिमाण का गुण में बदलना है। यह तब्दीली किसी भी पदार्थ में निहित या आरोपित गति के किसी रूप

के परिमाणात्मक परिवर्तन का नतीजा होती है।" ("डायलेक्टिक्स ऑफ नेचर")।

इससे यह बात स्पष्ट हो ज़ाती है कि मार्क्स और एंगेल्स का दर्शन यांत्रिकता का घोर विरोधी था, इसीलिये वह यांत्रिक भौतिकवाद न कहलाकर द्वंद्वात्मक भौतिकवाद कहलाता है। लेकिन वह प्रकृति को नियमों से परे नहीं मानता। उसका दावा है कि इन नियमों को जानकर मनुष्य अनिवार्यता को स्वाधीनता में बदल सकता है। प्रकृति के नियमों को जानकर उनसे लाभ उठा सकता है। नवीनजी के लिये यांत्रिकता नियमों को जानने और उनसे लाभ उठाने ही में है। उनके अनुसार विज्ञान ने प्रकृति को अनियमित साबितकर दिया है। 'आज का भौतिक विज्ञान अनिश्चित्यवाद (Theory of Indeterminacy) का सिद्धान्त मान चुका है।" इस तथाकथित "विज्ञान" को मार्क्सवाद नहीं मानता। वह प्रकृति को ज्ञेय नियमों से परिचालित मानता है—इसलिये वह अवैज्ञानिक है। यह सही है कि आज कुछ वर्गों को अपना भविष्य अनिश्चित दिखाई देता है लेकिन इसके लिये सामाजिक विकास के नियमों को जिम्मेदार न समझ कर वे मार्क्सवादियों को कोसते हैं और नियमहीनता को तथाकथित विज्ञान की दुहाई देकर अपने जीवन को सब से बड़ा नियम घोषित करते हैं। उनकी इच्छा। लेकिन संसार में शोषक वर्गों का क्षय हो रहा है, यह हम व्यवहार जगत में देख रहे हैं, उनका क्षय निश्चित है, यह हम सामाजिक विकास के नियमों से जानते हैं। इस बारे में कोई भी अज्ञान-विज्ञान अनिश्चय पैदा करके जनता को प्रगति पथ से विचलित नहीं कर सकता।

नवीनजी मानव-तत्त्व को ऐतिहासिक समाज-सम्बन्धों से परे साबित करने के लिए एक बहुत ही गंभीर प्रश्न करते हैं, "क्या रूसी युवक मनचाही युवती को प्राप्त कर आनन्द उठा सकता है और इस कारण क्या वह अपनी प्रेयसी के आगमन की बाट उत्सुकतापूर्वक नहीं जोहता? और यदि ऐसा है तो क्या उस सीमा तक रूसी मनःस्तर नितान्त रसहीन, उकठकुकाठ, असंस्कृत एवं जड़ नहीं हो गया है?"

नवीन जी ने जिस तरह पदार्थवादियों से शैली को पलायनवादी कहलाया था, उसी तरह वे उनसे प्रेम का भी खंडन कराते हैं। नवीनजी का

विचार है कि रूसी युवक (या कोई युवक) अपनी प्रेयसी के आगमन की बाट जोहेगा तो पदार्थवादी उसे असंस्कृत और रसहीन कहेंगे। लेकिन यह उत्सुकता गोचर संसार से परे है या उसके अन्तर्गत है? यह उत्सुकता मनुष्य के सामाजिक संबन्धों से परे है या उनके अन्तर्गत है? इस प्रेयसी के लिये उत्सुकता से पदार्थवाद का खंडन होता है या मंडन? वे निषेधभावनाएँ किन्हीं सामाजिक संबन्धों की देन हैं या हवा में पैदा हुई हैं जिनसे क्षुब्ध होकर कवि कहता है—

"एक चुंबन ही हुआ यह शाप जीवन का भयंकर,
अधर-सम्मेलन बना अनुताप जीवन का भयंकर।"

यह अनुताप वहीं ज्यादा पैदा होता है जहाँ प्रेम और विवाह दो विरोधी चीजें हैं, जहाँ विवाह का आधार संपत्ति है, इसलिये कवियों को पत्नी और प्रेयसी दो की भौतिक आवश्यकता पड़ती है, जहाँ अधिकांश प्रेम के गीत सामाजिक संबन्धों से परेशान होकर लिखे गये हैं, जहाँ कविता के सदाचार और सामाजिक जीवन के सदाचार में एक दीवार खड़ी कर दी गई है। अगर विवाह का आधार संपत्ति, संप्रदाय, खानदान या जाति न हो, यदि सामाजिक संबन्ध प्रेम के प्रतिकूल न होकर अनुकूल हों, तो यह दुरंगा सदाचार, यह प्रेम और विवाह का अन्तर्विरोध, यह पत्नी और प्रेयसी का द्वैतवाद भी मिट जाय। लेकिन इस तरह समस्या पेश करने से वह सामाजिक संबन्धों की समस्या, प्रत्यक्ष जीवन की समस्या बन जाती है। और यही बात नवीन जी को पसन्द नहीं है।

नवीन जी आगे कहते हैं, "और क्यों मित्रो, जब सूर बाबा ने 'पियाबिन नागिन कारी रात' जैसे अनेक गीत लिखकर वेदनामय साहित्य का सृजन किया वह क्या इस कारण कि उस सामन्तशाही युग में व्यक्ति-व्यक्ति का संबन्ध पण्यमय हो गया था?"

सामन्तशाही युग में व्यक्ति-व्यक्ति का संबन्ध पण्यमय नहीं होता, यह तो पूँजीवादी समाज की विशेषता है। सामन्तशाही युग में व्यक्ति-व्यक्ति के

संबन्ध सामन्तों और पुरोहितों के विशेषाधिकारों की रक्षा करते हुए कायम होते हैं। सामन्तीवर्ग की प्रेमभावना नायिकाभेद वाले साहित्य में प्रकट हुई है। इस साहित्य मैं नारी केवल शृंगार, केवल भोग की वस्तु है; प्रेम के लिये उसका कोई व्यक्तित्व नहीं है। इस साहित्य को जन्म देने वाले सामाजिक संबन्धों के विरुद्ध सूर ने प्रेम के गीत गाये, उन्होंने संसार को मिथ्या कहने वालों का विरोध भी किया था। इसीलिये उन मायावादियों को लोग भूल गये हैं लेकिन सूर के पद भारतीय जनता को आज भी प्रिय हैं और वास्तविक स्वाधीनता मिलने पर और भी प्रिय होंगे।

नवीन जी पदार्थवाद पर एक और दोष लगाते हैं। उनके अनुसार पदार्थ-वादी समझते हैं कि वर्गहीन समाज की रचना होने पर मानवजीवन से द्वंद्व मिट जायगा। कहते हैं, "यदि कोई यह समझता हो कि हिन्दी-काव्य-साहित्य में प्रकटित द्वंद्व-भावना सामन्तशाही के अवशेषों और साम्राज्यशाही के स्वार्थ-प्रसार के कारण है तथा इनके तिरोहित होते ही यह द्वन्द्व समाप्त हो जायगा, तो मैं यह कहूंगा कि यह मान्यता अशुद्ध , तर्कशून्य, थोथी और निःसार है।"

द्वंद्व जीवन का नियम है। आज द्वंद्व साम्राज्यवादी-सामन्ती स्वार्थों से है, कल वह मनुष्य के अर्जित ज्ञान और शेष ज्ञेय प्रकृति में होगा। द्वंद्व का अन्त हो जायगा, यह कल्पना पदार्थवादियों की नहीं है। लेकिन यह द्वंद्व अज्ञान और विस्मय को शाश्वत सत्य न कहेगा, वह मनुष्य के ज्ञान को पूर्ण न कह कर उसे निरंतर बढ़ाने का प्रयत्न करेगा। द्वंद्वहीनता का आरोप तो क्वासिवादियों पर ज्यादा न्याय के साथ लगाया जा सकता है क्योंकि वे देशकाल में किसी समाज विशेष के सदस्य मानव नाम के भौतिक प्राणी के ज्ञान के विकसित होने में विश्वास नहीं करते। जैसा कि नवीन जी खुद कहते हैं, "हाँ, आत्मोपलब्धि की साधना में निर्द्वंद्वता आ सकती है।" फिर पदार्थवादियों पर द्वंद्वहीनता का आरोप क्यों?

नवीन जी यह देखकर परम रुष्ट हो जाते हैं कि कांग्रेसी नेताओं के अहिंसावाद का संबन्ध कोई साम्राज्यवाद, सामन्तवाद या पूँजीवाद से जोड़ देता है। इसके लिये वह मार्क्सवादियों को इन शब्दों में याद करते हैं, "इस

देश के निवासियों को यह ज्ञात है कि अपने को पूँजीवाद के नाशकर्ता कहने वालों ने, वर्गहीन समाज की स्थापना का दम भरने वालों ने, अपने विप्लवकारी होने का ढिंढोरा पीटने वालों ने, मानवता के भयानक संकटकाल में असीम निर्लज्जता, कुत्सित नीचता, घोर राक्षसीपन, नग्न बर्बरता, पाशविक रक्त लिप्सा, जघन्यतम स्वार्थपरता, घृणित अवसरवादिता एवं हिजड़ेपन से भरी कायरता का परिचय देकर पहले फाशिस्त शक्ति से और तदनन्तर साम्राज्यवाद से, पेट के बल रेंग कर, दाँत निपोर कर, समझौता किया।"

यह इशारा किस की तरफ है? फाशिस्त शक्ति से किसने समझौता किया था? यह इशारा सोवियत संघ और नाज़ी जर्मनी के बीच होने वाली परस्पर हमला न करने की संधि की तरफ़ हो सकता है। और "तदनंतर" साम्राज्यवाद से समझौता करने की बात युद्धकाल में हिटलर-विरोधी सोवियत-ब्रिटेन-अमरीका के संयुक्त मोर्चे की तरफ़ हो सकती है।

सोवियत संघ ने नाज़ियों से समझौता कर लिया, यह आविष्कार नवीन जी का नहीं है। यह आविष्कार ब्रिटेन और अमरीका के साम्राज्यवादियों का ही है। वही लोग जो हिटलर और मुसोलिनी की मदद करके उन्हें सोवियत संघ के खिलाफ युद्ध के लिये उकसाते रहे थे, सोवियत-जर्मन संधि होने पर नाजीवाद के परमशत्रु बन गये और सोवियत "अवसरवादिता" को पानी पी पी कर कोसने लगे। उनकी खीझ अकारण नहीं थी। उनका यह मनसूबा कि सोवियत जर्मनी लड़ें और वे यूरोप और दुनिया पर अपना प्रभुत्व कायम करने के लिये सुरक्षित रहें, धूल में मिल गया था। सोवियत संघ ने एक दूसरे पर हमला न करने की संधि की थी, न कि नाज़ीवाद से समझौता किया था। आज भी सोवियत संघ ब्रिटेन और अमरीका से कहता है, आओ, विश्वशान्ति की रक्षा के लिये हम एक दूसरे पर हमला न करने के प्रतिज्ञापत्र पर दस्तखत करें। इस तरह के प्रतिज्ञापत्र पर दस्तखत करने से कौन डरता है? सोविय संघ नहीं बल्कि विश्व-प्रभुत्व चाहने वाला अमरीकी साम्राज्यवाद। लेकिन परस्पर हमला न करने की संधि करना शान्ति की रक्षा करना है, न कि साम्राज्यवाद से समझौता करना। सोवियत संघ ने जर्मनी से अनाक्रमण संधि की तो कौनसा पाप किया? यह "पाप" तो वह आज भी आइज़नहावर के साथ अनाक्रमण

सन्धि करके दोहराने को तैयार है। नवीन जी क्या चाहते हैं, सोवियत फौजें अमरीका पर हमला करके वहाँ साम्यवाद कायम करने जायँ जिसका डर दिखा कर अमरीकी जंगबाज बेहिसाब हथियार बन्दी कर रहे हैं।

इस बात को सभी जानते हैं कि दूसरे महायुद्ध के पहले जो भी युद्ध रोकने के लिये तैयार हो, सोवियत देश उसके साथ शान्ति रक्षा के लिये कदम उठाने को तैयार था। आज भी सोवियत संघ विश्व में शान्ति रक्षा के लिये जो देश भी चाहे, उसकी सामाजिक व्यवस्था की चिन्ता किये बिना, उससे सहयोग करने के लिये तैयार है। अगर शान्ति की रक्षा करना, युद्ध छेड़ने वालों को उनके काम में रोकना साम्राज्यवाद से समझौता करना है तो सोवियत देश ने जरूर समझौता किया है। लेकिन शान्ति को भंग करने वाला साम्राज्यवाद ही है। इसलिये उसके साथ समझौते का सवाल उन लोगों के लिये नहीं उठता जो शान्ति और युद्ध के खेमों के बीच तटस्थ हैं।

नवीन जी ने पिछले दिनों इस तरह आपे से बाहर होकर अपना रोष न तो भारत के बड़े पूँजीपतियों पर प्रकट किया है, न वियतनाम, मलाया और कोरिया के जल्लादों पर। मार्क्सवादियों को कोसने में उन्होंने अपने शब्दों का तूणीर खाली कर दिया है। अगर उनका संकेत भारत के मार्क्सवादियों की तरफ है तो बात कम बेबुनियाद नहीं ठहरती। फाशिस्त शक्ति से समझौता करने का सवाल उनके लिये उठ सकता है जो जापान-विजय के भरोसे भारत को आजाद करने का सपना देख रहे थे, मार्क्सवादियों के लिये नहीं। साम्राज्यवाद से समझौता करने का सवाल उन लोगों के लिये उठ सकता है जो भारत में ब्रिटिश पूँजी की रक्षा का बीड़ा उठा चुके हैं, जो डालरों के गुलाम बनकर उद्योगीकरण का सब्ज बाग दिखा रहे है, यह सवाल विदेशी पूँजी के राष्ट्रीयकरण की माँग करने वालों के लिये नहीं उठता। नवीन जी ने अपनी गहन रचनात्मक प्रतिभा का परिचय देते हुए जो विशेषण-विशेष्यों की झड़ी लगा दी है, उसके योग्य पात्र भारत या बाहर के मार्क्सवादी नहीं हैं। हम नवीन जी को उत्तर उन्हीं के लहजे में न देंगे क्योंकि उनका लहजा अब उस वर्ग का होगया है जो भविष्य के बारे में अनिश्चत है। मृत्युभय से पीड़ित जन ही वास्तविकता की अवहेलना करके इस तरह प्रलाप करते हैं।

नवीन जी बुद्ध और गान्धी की दुहाई देकर मार्क्सवादियों पर हिंसा का आरोप लगाते हैं। उनके अनुसार गांधी और बुद्ध के दर्शन "मानव को आरक्त, नखदन्तधारी, शोणितपायी भेड़िया बनने की प्रेरणा नहीं देते।" और ज़ाहिर है, मार्क्सवाद इनके विपरीत मनुष्य को नखदन्तधारी, शोणित-पायी भेड़िया बनने की प्रेरणा देता है। लेकिन कौन किसका रक्त पी रहा है, किसके हाथ में पैदावार के साधन हैं, कौन एशिया के देशों को गुलाम बनाकर वहाँ की जनता को अकाल मृत्यु के हवाले करता रहा है, यह भेद-भाव नवीन जी बिल्कुल भूल गये हैं। वे उनको हिंसक कहते हैं जो भेड़ियों को अब और रक्त देने से इन्कार करते हैं, जो भेड़ियों के इसरार करने पर उनके नखदन्त निकाल देने का साहस दिखाते हैं। लेकिन भेड़ियों से रक्षा करना हिंसा है, उनके साथ मिल बाँट कर जनता का रक्त शोषण करना अहिंसा है! जब तक मानव-समाज में भेड़िये रहेंगे, तब तक मनुष्य कभी अहिंसा के संसार में सुख की साँस न ले सकेगा। यह हम मानते हैं कि भेड़ियों की वकालत उन्हें भेड़िया कह कर नहीं की जासकती। इसका अहिंसावादी तरीका यह है कि उनसे मुक्ति चाहने वालों को भेड़िया कहा जाय।

साहित्य और नारी समस्या—

(१)

जैनेन्द्रजी का उपन्यास "सुनीता" हिंदी कथा-साहित्य में एक नयी धारा का सूत्रपात करता है।

इसमें एक पात्र है हरि प्रसन्न। कैसा है हरि प्रसन्न? "खूब चतुर, खूब कर्मण्य, खूब सप्राण और एक दम अज्ञेय ऐसा वह था।"

हरि प्रसन्न को मिलती है सत्या जिसे वह पढ़ाता है लेकिन उसे लड़की न चाहिये। उसे चाहिये एक भाभी। वह विवाह नहीं करना चाहता क्योंकि विवाह में मिलेगी पत्नी जब कि उसे चाहिये भाभी, जो पत्नी दूसरे की हो लेकिन भाभी हो हरिप्रसन्न की।

सुनीता का पति श्रीकान्त पूरा कलाकार है। जब हरिप्रसन्न ने सुनीता को देखा भी नहीं है, तब वह मानों उसकी जरूरतें समझ कर पहले से उसे भाभी की तस्वीर भेज देता है। पत्र में उसने लिखा, "अपनी भाभी की तस्वीर देखो और कहो, तुम्हें स्त्री से छुट्टी चाहिये?"

जब हरिप्रसन्न को भाभी मिल जाती है, वह कहता है, "तुम पहली बार भाभी बनी हो, और मैं नहीं जानता, भाभी क्या है? मुझे कहने दो, मेरे लिए सब तुम हो।"

वह शादी क्यों नहीं करता, वह किस तरह की स्त्री चाहता है, इस समस्या पर प्रकाश डालते हुए वह कहता है, "उस पत्नी से क्या होगा जो खाली पति-व्रता हो।" मानों हरिप्रसन्न को भय है कि उसकी ब्याहता उसी की होकर रही तो वह देवर बनने के सुख से वंचित रह जायगा।

हरिप्रसन्न को चाहिए "एक प्रतिमा भी, जो पतिव्रता चाहे न भी हो, पर अटूट हो; जो विपत्तियों में ऐसे चमके, जैसे घोर घन में बिजली।" प्रतिमा भी न हो बल्कि प्रतिमा ही हो। जितनी ही वह प्रतिमा अधिक और नारी कम

होगी, उतना ही अच्छा। हरिप्रसन्न दूर से या निकट से उसे पूजना भर चाहता है; उसके नारीत्व से उसे डर लगता है।

हरिप्रसन्न भाभी के कंधे पर हाथ रखकर पुकारता है—भाभी। और भाभी पूछती है, यह क्या है? हरिप्रसन्न जवाब देता है, "क्या है? यह जिंदगी है भाभी। इसी का क्रूसीफिक्शन है।"

हरिप्रसन्न ज़िन्दगी के लिये मौत से लड़ना नहीं चाहता; वह जिन्दगी को खत्म करना चाहता है मौत के लिये।

हरिप्रसन्न हवा में पिस्तौल छोड़ता है। भाभी दोनों हाथ से उसकी बाँह दाबे रही। हरिप्रसन्न को निधि मिल गई। "जो हरिप्रसन्न ने ज़िन्दगी में कभी नहीं जाना, वह इन क्षणों में जाना। उसने थोड़ा सा सुख जाना।"

इस सुख को दोहराने और उसे घना बनाने के लिये हरिप्रसन्न पिस्तौल छोड़ने से ज्यादा भयपूर्ण परिस्थिति पैदा करता है। "सुनसान जंगल। अंधेरी रात। एक बजा होगा।" हरिप्रसन्न भाभी का हाथ पकड़े चला जा रहा है, उसे प्रतिमा के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिये। तभी—"चलते-चलते अत्यन्त आकस्मिक रूप में सुनीता को अपनी बाहों में समेट ले कर हरिप्रसन्न बोल उठा—आह! ग़ज़ब हुआ!"

क्या ग़ज़ब हुआ, यह बात महत्त्वपूर्ण नहीं है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि "उसने सुनीता को बाहुओं में और कसके कहा"—। उसने कई बातें कहीं और अन्त में क्लाइमैक्स पैदा किया यह कह कर, "वहाँ शायद मौत है।" सुख को दुगुन-चौगुन करने के लिये परिस्थिति तैयार होगई। "सुनकर सुनीता हरिप्रसन्न की बाहों में सिमटी हुई उस अंधकार में उसके चेहरे की ओर उत्सुकता से देखने लगी।"

भाभी परेशान हो जाती है हालाँकि कल्पित भय के कारण वह अपने को हरिप्रसन्न के आलिङ्गन से छुड़ाने की कोशिश नहीं करती। पूछती है, "क्या हुआ? क्या हुआ? बोलो।"

हरिप्रसन्न बोलता है लेकिन खोया हुआ सा। "मानों हरिप्रसन्न को पता भी न हो इस भाँति अनायास जोर से सुनीता को अपने से चिपटा कर उसने कहा, तुम जानती हो, अकेला होता तो मैं अब क्या करता? वहाँ संकट है।

उस संकट के मुँह को ही जाकर मैं पड़ता। लेकिन आज तो में उधर ताकता दूर खड़ा हूं। मैं कुछ भी नहीं कर सकता।"

किस्सा कोतह, भाभी "हरिप्रसन्न के अङ्ग में सिमटी ही रही।"

खतरा बैकग्राउण्ड सङ्गीत की तरह बना ही रहता है। सुनीता अब हरिप्रसन्न के लिये भाभी नहीं रहती, वह सुनीता हो जाती है। और हरिप्रसन्न मौत की बात सुना कर कहता है, "मैं और मौत आमने सामने हैं।" मौत का सामना करता हुआ वीर हरिप्रसन्न सुनीता से कहता है, "में तुम्हें प्रेम करता हूँ—प्रेम ? लेकिन मैं भी नहीं जानता हूँ, सुनीता।"

अन्त में, "अपने शरीर पर आहिस्ता-आहिस्ता फिरते हुए इस पुरुष के हाथ का स्पर्श अनुभव करने" के बाद, सुनीता पूछती है, "तुम क्या चाहते हो हरी बाबू ?" हरीबाबू जवाब देते हैं, "तुमको चाहता हूँ, समूची तुमको चाहता हूँ।" सुनीता समझ नहीं पाती कि उसके चाहने में अभी बाधा क्या है। वह पूछ बैठती है, "तो मैं तो हूँ। तुम्हारे सामने हूँ। ले क्यों नहीं लेते।" हरिप्रसन्न इस निमन्त्रण के लिये तैयार नहीं है। उसका हाथ "घूमता-घूमता सुनीता की बाँह पर" रुक जाता है। और सुनीता फिर पूछती है, "तुम्हें काहे की झिझक है, बोलो। मैंने कभी मना किया है ? तुम मरो क्यों ? मैं तो तुम्हारे सामने हूं। इन्कार कब करती हूँ ? लेकिन अपने को मारो मत। हरी बाबू, मरो मत, कर्म करो। मुझे चाहते हो, तो मुझे ले लो।"

हरिप्रसन्न का नाटक सफल हो जाता है। खुद मरने का डर दिखाकर वह सुनीता से आत्म-समर्पण करा लेता है। वह अपने को जीवन से निराश या उदासीन दिखाकर, मृत्यु के लिये उत्सुकता प्रकट करके जीवन के लिये मृत्यु को वरने की उत्सुकता न दिखा कर वरन् मृत्यु के लिये जीवन से बिदा होने की उत्सुकता दिखाकर— वह सुनीता को "इन्कार कब करती हूँ" की मंजिल तक ले आता है।

लेकिन इस बात से ही नाटक का ऐंटीक्लाइमैक्स शुरू हो जाता है। सुनीता की साड़ी स्कंध भाग से नीचे सरक आती है। फिर यह कहते हुए, "मुझे चाहते हो ? मैं यह हूँ"—वह अपना जम्पर अलग रख देती है। हरिप्रसन्न अचकचा उठता है। उसके मुँह से सिर्फ "भाभी" निकलता है।

मानों जंपर के अलग होते ही सुनीता से वह फिर भाभी हो गयी हो ! लेकिन सुनीता ने यह कहते हुये—"मुझे ही चाहते हो न ? मुझे लो ।"—उसने अपने चारों ओर से साड़ी हटाना शुरू कर दिया— हरिप्रसन्न बेहद घबड़ा जाता है। उसके मुँह से एक ही शब्द निकलता है, भाभी ! लेकिन अब सुनीता ने साड़ी बिल्कुल अलग कर दी। वह शरीर पर शेष बचे बॉडी को खोलने लगती है। हरिप्रसन्न उसके हाथ पकड़ लेता है। लेकिन सुनीता शरीर से चिपकी हुई बॉडी को झाड़ डालती है। "वह अन्तिम वस्त्र भी चीर होकर नीचे सरक गिरा।"

हरिप्रसन्न जो मृत्यु को भेंटने के लिये इतना उत्सुक था, भाभी को साड़ी-जम्पर हीन रूप में देखकर डर जाता है। दोनों हाथों से आँखें ढँक लेता है। "सर्वथा पराभूत वह अपने पराजय में गड़ जाने लगा। लज्जा ने उसे जमा दिया। मानों काटो तो लहू नहीं। धरती फट क्यों न गई कि वह गड़ जाता।" यानी जो लज्जा नारी का भूषण है, वह हरिप्रसन्न के गले पड़ गई और जो साहस पुरुष का भूषण है, वह सुनीता के गले पड़ा। हरिप्रसन्न भाभी भाभी कहता हुआ हाथ से आँखें मीचे वहाँ से उठकर चल पड़ा और उसके बाद यह वादा करके कि वह अपने को मारेगा नहीं, हरिप्रसन्न सुनीता को घर छोड़ आता है। फिर श्रीकान्त और सुनीता की गृहस्थी का छकड़ा चलने लगता है। हरिप्रसन्न उस घर से विदा हो जाता है।

अज्ञेय का शेखर भी मृत्यु का प्रेमी है। अंग्रेजी से अनेक निराशावादी कवियों की रचनाएँ उसने याद कर रखी हैं। निराशा और मृत्यु के सपनों में "शुभ्र कंठ के नीचे कुचों की गोलाई जैसे सोते के जल में अर्ध मुकुलित कुमुदिनी" के चित्र भी मिले हुए हैं।

शेखर घोर विद्रोही है, पैदायशी विद्रोही है। आर्थिक कारणों से कोई विद्रोह करे यह उसकी समझ में नहीं आता। हमारे घर में रोटी नहीं है, रोजी हमें मिलती नहीं, हम भूखे हैं, इसलिये हम विद्रोही हैं। मैं समझता हूँ कि यह कहना क्षुद्रता है, अपना घोरतम अपमान है।"

वह "दुनियाँ के विद्रोहियो एक हो" का नारा देते हुए ललकारता है, "मैं कहता हूँ, ओ विद्रोहिओ, आओ, पहले इसी दंभ को काटो ! जानो,

समझो, घोषित करो कि हम इस या उस दुर्व्यवस्था के नहीं, हम इस ऐसेपन के ही, एतादृश्त्व मात्र के विरोधी हैं, हम सभी कुछ बदलना चाहते हैं, हमारी विद्रोही-प्रेरणा धर्म के, समाज के, राजसत्ता के, अर्थ-सत्ता के, और अन्त में अपने व्यक्तित्व के प्रति विद्रोही है।"

ऐसा विद्रोह कि विद्रोही प्रेरणा भी विद्रोही है। अपने व्यक्तित्व से भी विद्रोह है। जीवन से विद्रोह है। हर तरह की व्यवस्था से, संगठन से, मनुष्यता से विद्रोह है। ऐसा आदर्श विद्रोही आसानी से नहीं पैदा होता। "एक संपूर्ण और आदर्श विद्रोही को उत्पन्न करके ही एक समूची शताब्दी, बल्कि एक समूची संस्कृति सफल हो जाती है।"

शेखर ऐसा ही विद्रोही है। हरिप्रसन्न के जीवन में जो कुछ अज्ञात या अज्ञेय रह जाता है, वह "शेखर : एक जीवनी" में स्पष्ट हो जाता है।

शेखर विद्रोही है लेकिन क्रान्तिकारी नहीं। उसके लिये विद्रोही पैदा होते हैं, बनते नहीं हैं। वह संसार की सब से बड़ी क्रान्ति के नेता स्तालिन के बारे में कहता है, "संसार की सब से विराट्, सबसे अधिक आग्नेय, घोरतम युग प्रवर्तक रूसी क्रान्ति की गोद में पलकर भी स्टैलिन विद्रोही नहीं हो पाया, जूठन बीनने वाला ही रह गया है........।"

शेखर के दिमाग़ में कभी-कभी एक पंक्ति गूँजा करती है,

"Better to be a dog, a pig, a rat, a stinking worm than to be a man whom no one trusts."

"अविश्वसनीय होने से कुत्ता, चूहा, दुर्गन्धित कृमि कीट होना अच्छा है ...."। शेखर ऐसा ही मानवद्रोही है कि उस पर कोई विश्वास नहीं करता। उसकी तरह के दुर्गन्धित कृमिकीट ही मानव समाज के प्रियनेता स्तालिन के लिये इस तरह के अपशब्द लिख सकते हैं। आश्चर्य इस बात पर नहीं है कि अज्ञेय ने "शेखर" में यह सब लिखा है। आश्चर्य इस बात पर है कि हिन्दी के "प्रगतिशील" आलोचक शेखर को क्रान्तिकारी उपन्यास कह कर उसकी तारीफों के पुल बाँधते नहीं थके।

जून १९४७ के "हंस" में श्री भारतभूषण अग्रवाल के कुछ सवालों पर अज्ञेय के जबाब छपे हैं। इनमें एक जगह अज्ञेय ने त्रात्स्की और स्तालिन के

बारे में अपनी धारणाएँ स्पष्ट करते हुए कहा है, "ट्राट्स्की के चरित्र का उत्थान (और उसके अहं की अंतिम पराजय भी) कल्पना को छूता है और भावनाओं को उद्वेलित करता है। ट्राट्स्की के जीवन में स्टालिन के जीवन की अपेक्षा नाटकीय तत्व कहीं अधिक है। और 'शेखर' के जमाने के आतंकवादी क्रान्तिकारियों के लिए इन चीजों का महत्व बहुत अधिक था।........मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि शेखर के समय युगीन सभी आतंकवादी ट्राट्स्की के प्रति अधिक आकर्षित थे। उन आतंकवादियों में से बहुत से आज आगे बढ़ कर उस भावना मूलक आकर्षण को गलत मानें, यह तो उचित है, लेकिन ऐसा आकर्षण उनमें था ही नहीं, यह दावा झूठ होगा।"

त्रात्स्की के जीवन में नाटकीय तत्व यह अधिक था कि उसने अपने देश और जनता से विश्वासघात करके साम्राज्यवादियों की जासूसी की, इनकी चाकरी करते हुए घृणित से घृणित काम करने से भी वह बाज नहीं आया। विद्रोह और क्रान्ति के बारे में लफ़्फाजी करने में वह शेखर का गुरू था। उस गुरू के चरणचिन्हों पर चलते हुए अज्ञेय ने भी ऐंग्लो अमरीकी साम्राज्यवाद की चाकरी स्वीकार करके "शान्ति" और "व्यक्ति की स्वाधीनता" की रक्षा के लिये सांस्कृतिक सम्मेलनों का आयोजन किया है।

शेखर राजनीति से परे नहीं है। उस पर किसका प्रभाव है, यह अज्ञेय के मुँह से ही स्पष्ट हो चुका है।

यह मानना होगा कि स्तालिन और त्रात्स्की के बारे में इस तरह के "भ्रम" सिर्फ अज्ञेय को नहीं है।

राहुल जी ने "सोवियत भूमि" में दिखलाया है कि स्तालिन और त्रात्स्की के संघर्ष में लेनिन ने, कम से कम एकवार, त्रात्स्की का साथ दिया। लाल फौज के सिलसिले में त्रात्स्की ने किसी बात की शिकायत लेनिन से की और "लेनिन ने त्रात्स्की की आज्ञा मानने के लिए स्तालिन को मजबूर किया।" (पृ० १७४)। लेकिन "लेनिन का स्तालिन पर अधिक विश्वास और स्नेह था।" (पृ० १७५)। मानों सारा संघर्ष स्नेह और विश्वास को लेकर हो। लेनिन के शब्द त्रात्स्की की किस्मत का फैसला करते हैं कि "नेतृत्व

स्तालिन को मिलना चाहिए या त्रात्स्की को।" (पृ० १७८)। त्रात्स्की के लिये कहा गया है कि वह "साहित्यिक आदमी था, शब्दों का धनी था।" (पृ० १७५)।

"सोवियत भूमि" में राहुल जी ने अज्ञेय की तरह स्तालिन को गालियाँ नहीं दीं। उन्होंने इतना ही कहा है कि "स्तालिन पत्थर की तरह भावुकता-शून्य है। अगर उसमें नसें हैं तो चट्टानों की। होशियार, चतुर। आखिर है भी तो वह पूर्वीय।" (पृ० १८३)।

साम्राज्यवादी प्रचारकों द्वारा "निर्दय" स्तालिन के रेखाचित्र की हर पंक्ति राहुल जी ने उतार ली है।

स्तालिन के क्रान्तिकारी जीवन के बारे में उन्होंने "सोवियत भूमि" में लिखा है, "१९१७ से पहले का जीवन तैयारी का जीवन था। असली जीवन स्तालिन का लाल क्रान्ति के बाद शुरू होता है।" (पृ० १७२-३) लेकिन गद्दार बुखारिन के बारे में राहुल जी की राय है, "बुखारिन उन आदमियों में से है, जिसने अपनी जिंदगी का सारा भाग लालक्रान्ति के आवाहन और सफलता में खर्च किया।" (उप० भूमिका, पृ० १३)।

निःसन्देह राहुल जी ने गद्दारों और क्रान्ति-विरोधियों के "क्रान्तिकारी" जीवन का जितना गंभीर अध्ययन किया है, उतना स्तालिन के जीवन का नहीं।

स्तालिन और त्रात्स्की के बारे में अपनी पुस्तक "मार्क्सवाद" में यशपाल जी लिखते है, "जहाँ तक मार्क्सवाद के राजनैतिक आर्थिक और दार्शनिक सिद्धान्तों का सम्बन्ध है, ट्राट्स्की और स्टालिन में कोई भेद न था। परन्तु संसार में समाजवाद स्थापित करके समाज की अवस्था कम्यूनिज्म की स्थापना के योग्य बनाने के सम्बन्ध में उनके कार्यक्रम में भेद था।"

अगर क्रान्ति विरोध और क्रान्ति एक ही चीज हैं तो जरूर स्तालिन और त्रात्स्की में कोई भेद न था। लेकिन जैसा कि लोग जानते हैं, त्रात्स्की राजनीतिक, आर्थिक और दार्शनिक सभी क्षेत्रों में मार्क्सवाद, लेनिनवाद का विरोधी था।

आगे यशपालजी कहते हैं, "लेनिन के पश्चात् रूस में समाजवादी व्यवस्था

चलाने का काम कम्यूनिस्ट दल ने स्टैलिन को सौंपा। ट्राटस्की भी मार्क्सवाद का बहुत बड़ा विद्वान और विशेषज्ञ समझा जाता था। रूस की क्रान्ति के पुराने नेताओं में से होने के कारण उसका प्रभाव भी कम न था। रूस में समाजवाद को सफल बनाने और समाजवाद के लिये विश्वक्रान्ति करने की तैयारी के कार्यक्रम के बारे में इन दोनों में मतभेद हो गया। वह मतभेद यहाँ तक बढ़ा कि वह सिद्धान्तों का भेद जान पड़ने लगा।"

जैसा कि सभी जानते हैं, भेद कार्यक्रम ही का न था हालाँकि कार्यक्रम किन्हीं सिद्धान्तों के मातहत ही बनते हैं। स्तालिन और त्रात्स्की का "मत-भेद" मार्क्सवाद और क्रान्ति-विरोध का भेद था। यशपाल के वाक्यों से अज्ञेय की यह बात तो साबित नहीं होती कि शेखर के समय के सभी आतङ्क-वादी ट्राट्स्की के प्रति अधिक आकर्षित थे लेकिन उनमें से कुछ—जिनमें यशपाल जी भी हैं, उसकी ओर एक हद तक आकर्षित अवश्य थे—यानी सोवियत-विरोधी साम्राज्यवादी प्रचार के असर में थे—यह जरूरी साबित होता है।

शेखर त्रात्स्की जैसे क्रान्ति-विरोधियों का भक्त होकर उसी तरह की वीरता का परिचय देता है जिस तरह कि वीरता की उससे आशा की जा सकती है। अपनी दीनता का रोना रोकर या अपने चिर विद्रोहवाद की दुहाई देकर वह स्त्रियों की करुणा जगाने में एक ही है।

"कर्मभूमि" के अमरकान्त की तरह शेखर सर्वतोमुखी क्रान्ति चाहता है। इस क्रान्ति के लिये वह साहित्य रचता है—"साहित्य—वह साहित्य जो क्रान्ति को प्रेरणा दे····और क्रान्ति? एकपक्षीय नहीं, सर्वतोमुखी क्रान्ति! जो क्रान्ति एक दिशा में तभी बढ़ती है जब दूसरे मार्ग बन्द कर ले, वह क्रान्ति नहीं है।"

क्रान्ति के लिये वह संगठन जरूरी नहीं समझता। व्यक्ति द्वारा की गई चेष्टाओं को वह सङ्गठित प्रयत्नों से श्रेष्ठ समझता है। उसने अपना धर्म बना लिया है, "बहुमुखी क्रान्ति के लिये भूमि जोतना और बोना, क्रान्तिबीज की सिंचाई और निराई करना"····।

आत्मपीड़ा का सफल अभिनय करने के बाद जब शशि शेखर के ऊपर

झुकी होती है तो उसे लगता है "जैसे पहाड़ी सोते के ऊपर छायादार सप्तपर्ण का वृक्ष" ...झुक आया है।

आत्मापीड़ा के बारे में शेखर कहता है, "पाने के लिये न जियो, देने के लिये जियो। माना। पर क्या दो? निरुद्देश्य, कारण हीन, अर्थहीन आत्म-पीड़ा क्यों हो, किसके लिए हो?"

शेखर पश्चिम की पूँजीवादी संस्कृति से प्रभावित हिन्दुस्तान के उन निकम्मे लोगों में से है जो एक तरफ तो विद्रोह की लम्बी चौड़ी बातें कर के अपनी हीन भावना सन्तुष्ट करते हैं, दूसरी तरफ आत्मपीड़ा के अभिनय से अपने अस्तित्व को सार्थक कर के नारी से करुणा की भीख माँगते हैं। उनका विद्रोह और आत्मपीड़ा दोनों ही उनके निकम्मे व्यक्तित्व के दो पहलू हैं।

और जब उस पर सप्तपर्ण की छाँह पड़ती है तब "वह तन्द्रा पूर्ववत् छा गई और सप्तपर्णी की छाँह में अस्तित्व सो गया...."।

सुनीता की तरह शशि भी विवाहिता है। उसकी अपेक्षा कष्ट ज़्यादा सहती है। वह शेखर से प्रेम करती है लेकिन शेखर उस प्रेम को लेकर क्या करे? वह प्रेम को कर्म के लिये प्रेरणा मानना चाहता है लेकिन कर्म उसके पास है क्या? आतङ्कवाद के नाम पर जो कर्म था, वह भी समाप्त हो गया है। वह ठीक कहता है, "जीवन ने अर्थ खो दिया है, यथार्थता, व्यवस्था, गति सब कुछ खो दिया है। निरा अस्तित्व—एक क्षण से दूसरे क्षण तक एक अणु पुंज का बने रहना—वह भी मिट गया है। ......भावना से भटकता हुआ एक विचार हर जगह आग देता हुआ और स्वयं ज्वाला में झुलसता हुआ—निरन्तर उठता हुआ, उठता हुआ, न बुझता हुआ, न मरता हुआ...."।

ऐसा है शेखर, कुण्ठावाद का प्रतीक। जीवन और साहित्य में निरुद्देश्यता का प्रचारक। ऐसा विद्रोही कि अपने व्यक्तित्व से ही विद्रोह कर बैठे। फिर भी उस व्यक्तित्व को उदात्त बनाकर अहंकर को सन्तुष्ट करने में उसकी सार्थकता देखे। शेखर ऐसी चरम स्वार्थपरता का प्रतीक है कि वह किसी भी जन-हित के काम में हिस्सा नहीं ले सकता। जन-द्रोह में ही वह अपने विद्रोह की चरम परिणति देखता है। यह पूरा नाटक "नदी के द्वीप" अज्ञेय, की कवि-

ताओं और लेखों में दिखाई देता है।

शेखर के व्यक्तित्व को लेकर पाँच सौ पन्नों में जो कुछ कहा गया है, वह इस एक वाक्य में भी बहुत स्पष्टता से कह दिया गया है—

"जिस प्रकार घोंघे के भीतर रहने वाला जीव तभी बाहर निकलता है, जब वह भूखा होता है या जब वह एक प्रणयी खोजता है, और तृप्त होकर फिर घोंघे के भीतर घुस जाता है, उसी प्रकार असंतुष्ट और अतृप्त शेखर भी बाहर निकला हुआ था।"

इस घोंघावसन्ती साहित्य में कुछ विद्वानों ने महान् मनोविज्ञान, उत्कृष्ट कला, क्रान्तिकारी तत्व, क्या क्या नहीं ढूँढ़ लिया।

"प्रतीक" (संख्या २) में श्री नेमिचंद्र लिखते हैं, "इस अंतर्मुखी साहित्य में एक तरह की तीखी तीव्रता है जो प्रायः पाठक को अवसन्न छोड़ जाती है क्योंकि स्वयं लेखक की छाती पर ही एक कटार रक्खी हुई है या उसकी पुकार किन्हीं खँडहरों में खो चुकी है। स्पष्ट ही ऐसे साहित्य में जीवन के संस्कार, की अवरोध के विषको पीकर मानव को शिवत्व अथवा अमरत्व प्रदान करने की न तो प्रवृत्ति ही है न शक्ति ही। घोर आत्मरति के कारण लेखक अपनी ही संकुचित परिधि में चक्कर काटता रहता है और घुटता रहता है।"

शेखरपंथी साहित्य के कुछ आलोचकों की यह विशेषता है कि वे एक तरफ तो उसकी घोर आत्मरति की निन्दा से करते लगेंगे, साथ ही वे उसकी "तीखी तीव्रता" अर्थात् तीव्र तीव्रता की तारीफ भी करेंगे जो प्रायः पाठक को अवसन्न छोड़ जाती है, अगर सभी पाठकों को नहीं तो कम से कम इन आलोचकों को जरूर। उन्हें शेखरपंथी साहित्य के मुकाबले में और सब साहित्य फीका लगता है। अन्तर्मुखी साहित्व की चर्चा करने के बाद नेमिचन्द्र "तथा कथित सामाजिक चेतना का साहित्य" लेते हैं। वह मानते हैं कि "नये जीवन के निर्माण की प्रेरणा भी उसमें है," फिर भी उन्हें वह पसन्द नहीं आता क्योंकि "अन्तर्मुखी साहित्य की अपेक्षा उसमें आंतरिक सूक्ष्मता कम है। वह प्रायः सारा का सारा अस्वीकार का साहित्य है, बचकाना और जैसे

किसी सांचे में ढला हुआ। उसमें प्रचलित नारों और घिसे पिटे विचारों की भरमार है।"

यह मानते हुए कि हमारे यहां कुछ साहित्य ऐसा भी है जिसमें प्रचलित नारों और घिसे-पिटे विचारों की भरमार है, नेमिचन्द्र की इस बात से शायद ही कोई सहमत हो कि हिन्दी में "अन्तर्मुखी" साहित्य के अलावा जो भी "सामाजिक चेतना" का साहित्य है, वह बचकाना और किसी सांचे में ढला हुआ है। इस तरह के आक्षेप अज्ञेय की तरफ से भी प्रगतिशील साहित्य पर हुए हैं। शिवदानसिंह चौहान ने अपने समर्थन में "कुत्सित समाज शास्त्र" के खिलाफ़ अज्ञेय का एक लंबा पैरा (अपने नई चेतना, नं० ४) वाले लेख में उद्धृत किया है। जैसे चौहान को हिन्दी लेखक ही सामयिक हलचलों में फँसे नहीं दिखाई दिये, गोर्की और शेली जैसे कलाकार भी दलदल में घँसते जान पड़े, उसी तरह अज्ञेय को सिर्फ हिन्दी में साँचे का ढला हुआ साहित्य नहीं मिलता, उन्हें समूची सोवियत संस्कृति साँचे में ढली हुई जान पड़ती है।

अप्रैल १९५२ के "प्रतीक" में वह लिखते हैं, "यह कदाचित् कहा जा सकता है कि 'फोक' के अर्थ में लोक रूस में है ही नहीं, और वहाँ का जन प्रकृत जन नहीं, राज्य द्वारा संचालित श्रमिकजन है; फलतः वहाँ की संस्कृति भी सहज विकसित होती हुई लोकसंस्कृति नहीं, राज्यद्वारा संचालित श्रम-संस्कृति है।"

अज्ञेय को सोवियत देश के मनुष्य, कला, संस्कृति सब साँचे में ढले हुए जान पड़ते हैं। उनमें न तो शेखर का "विद्रोह" है, न उसकी आत्मपीड़ा। वे मेहनत करने वाले, शान्ति और जनतंत्र के लिये लड़ने वाले लोग हैं, उनकी संस्कृति और कला उनके मनोजगत् के प्रतिबिंब हैं। अज्ञेय को यह सब आतंकजनित मालूम होता है।

स्तालिन के चित्रों का ज़िक्र करते हुए अज्ञेय ने लिखा है, "आश्चर्य की बात है कि स्तालिन के इन चित्रों में कदाचित् ही कोई अच्छा चित्र था—और शबीह की सार्थकता कदाचित् ही किसी कलाकार में थी। इसका कारण यह हो सकता है या नहीं कि स्तालिन का व्यक्तित्व रूस के कलाकारों को आतंकित किए हुए है, इस जिज्ञासा का उत्तर पाने का कोई उपाय नहीं है!"

कुत्ते की दुम एक बार टेढ़ी हुई तो हमेशा टेढ़ी ही बनी रही। अज्ञेय ने "शेखर" में स्तालिन के प्रति जो जहर उगला था, उसका झाग सन् ५२ के "प्रतीक" में मौजूद है।

शेखरपंथियों ने प्रगतिशील साहित्य का जो विरोध किया है, वह हमारी किन्हीं विशेष खामियों की वजह से नहीं। अज्ञेय जैसे लोग हर भाषा और देश के जनवादी साहित्य के दुश्मन हैं।

नेमिचन्द्र की तरह शिवदानसिंह चौहान ने भी शेखर की असामाजिक चेतना, व्यक्तिवाद, ह्रास आदि की आलोचना की है, लेकिन उस सब का नतीजा यही निकलता है कि हिन्दी कथासाहित्य में चारों तरफ ह्रास है, सिर्फ शेखर इस युग का श्रेष्ठ उपन्यास है। "कथा साहित्य की समस्याएँ" नाम के निबन्ध में वह लिखते हैं, "अज्ञेय का 'शेखर एक जीवनी' 'गोदान' के बाद सबसे महत्वपूर्ण और कलात्मक उपन्यास है।"

अवश्य ही, असामाजिक चेतना, व्यक्तिवाद, ह्रास आदि से उसका कलात्मक सौन्दर्य घटता नहीं बल्कि शायद बढ़ता ही है। इधर चौहान की राय में "प्रगतिवाद के नाम पर अब तक हिन्दी में जो कथा-साहित्य पैदा हुआ है उसे देखकर घोर निराशा होती है।" प्रगतिशील कथासाहित्य के मुख्यपात्र कौन हैं? "प्रगतिवादी कहानियों के पात्र समाज के वे विकृत मानव हैं जो किसी भी क्रान्तिकारी सिद्धान्त से क्रान्ति के अग्रदूत नहीं बन सकते—जैसे वेश्या, भिखारी, कोई लूला-लँगड़ा अपंगु, पागल, विक्षिप्त आदि।"

प्रगतिशील कथा-साहित्य का जैसा गंभीर ज्ञान इन पंक्तियों में प्रकट हुआ है, वैसा अन्यत्र, चौहान में भी, दुर्लभ है। आश्चर्य यह है कि शेखर का जो पागलपन अज्ञेय से भी छिपा नहीं रहा, उसे चौहान जैसा आलोचक क्यों नहीं देख पाया? शेखर कहता है, "मैं पागल तो नहीं हूं। किन्तु कभी कभी सोचता हूं कि मुझे पागलपन के इस ओर रखने वाली, सीमित कर देने वाली रेखा कितनी पतली है!"

जैसे वह शेखर के लिये पतली है, वैसे ही उस उपन्यास को गोदान के बाद

हिन्दी का सबसे महत्वपूर्ण और कलात्मक उपन्यास कहने वाले के लिये भी वह रेखा पतली है।

प्रतीक (नं० १) में यह दावा किया गया है कि "वह देश की स्वाधीन साहित्यिक चेतना का प्रतीक है।" यह चेतना किससे स्वाधीन है? सामन्ती साम्राज्यवादी संस्कृति के प्रभाव से? नहीं, यह चेतना स्वाधीन है सामाजिक उत्तरदायित्व से। मिसाल वैज्ञानिकों की दी गई है जो अपने प्रयोग किया करते हैं लेकिन जिन्हें कोई विज्ञान के लिये विज्ञान या जीवन से पलायन नहीं कहता। इसलिये "साहित्यिक रूपाकारों की पड़ताल करने वाला, कला के उपकरणों की शक्तियों का अनुसंधान करने वाला ही क्यों इस नाते अक्षम्य अपराधी माना जाय कि वह कला के लिए कला का प्रतिपादन करता है?"

पहले तो विज्ञान के आविष्कार उद्देश्यहीन नहीं होते; वे मानवकल्याण या विनाश के लिये होते हैं। इसलिये "प्रतीक" की मिसाल में वैज्ञानिकों को सामाजिक उत्तरदायित्व से बरी मानकर उनसे कलाकारों की तुलना सही नहीं है। दूसरे रूपाकारों की पड़ताल करने वाले कलाकार—फॉर्मलिस्ट या रूपवादी-अपनी कलाका रूप किसी विषयवस्तु को ही देते हैं जो सामाजिक विकासक्रम से तटस्थ नहीं होती, उदीयमान या मरणशील तत्वों का साथ देती ही है। हम केवल रूपाकारों की पड़ताल कर रहे हैं, यह साहित्य की पतनशील विषय-वस्तु को छिपाने की साधन मात्र है।

"प्रतीक" घोषणा करता है कि वह "किसी दल का पत्र या आयोजन नहीं है।" लेकिन ऐसा समाज जो दो दलों में बँट गया हो, जिसमें एक दल पुरानी उपनिवेशी व्यवस्था की रक्षा करना चाहता हो, दूसरा दल उस व्यवस्था से उकता गया हो, वहाँ दलों से अलग रहकर अदृश्य लीक पर शुद्ध कला की गाड़ी हाँकना असंभव है। प्रतीक और अज्ञेय की सक्रिय सहानुभूति उन लोगों के साथ है जो इस उपनिवेशी व्यवस्था की रक्षा करना चाहते हैं। इसके बावजूद पाठकों के दबाव से "प्रतीक" में जब तब अच्छी चीजें छप जायँ, यह अपवाद उस नियम को ही साबित करता है।

"प्रतीक" (नं० ४) में कहा गया है कि राजनीतिक दल "स्वयं दुराग्रह, संकीर्णता और पाखंड के पोषक हो सकते हैं, और मानसिक विकृति और

अंश के कारण बन सकते हैं। 'प्रतीक' स्पष्ट-दर्शिता और बेलाग आत्म-निरीक्षण का समर्थक है, और उसके लिये राजनीतिक दल का सहारा आवश्यक नहीं मानता।"

लेकिन संस्कृति और स्वाधीनता पर "प्रतीक" के अपने विचार दलों से परे नहीं हैं। उन विचारों से हमें साम्राज्यवादी प्रचार पहले ही परिचित करा चुका है।

फर्वरी १९५१ का "प्रतीक" बुद्धिजीवियों से आग्रह करता है कि वे "अपने मन, अपने चिंतन, अपनी बुद्धि को वैचारिक दासता से बचाने और उबारने के लिये भी सतर्क और सन्नद्ध रहें।" लेकिन यह वैचारिक दासता का भय किससे है? अज्ञेय को यह भय साम्राज्यवाद और उसकी विचारधारा से नहीं है जिसने हमारी संस्कृति को पैरों तले रौंदा है, उसके विकास में बाधा डाली है। उन्हें यह भय उन शक्तियों से है जो शान्ति और जातीय संस्कृति की रक्षा और विकास के लिये संघर्ष कर रही हैं। "प्रतीक" को शान्ति-आन्दोलन से जो खतरा दिखाई दे रहा है, वह इन वाक्यों से स्पष्ट है, "आज जो आसन्न युद्ध संकट के नाम पर कहा जाता है कि पहले शान्ति चाहिए, पीछे स्वतंत्रता देखी जायगी; वह स्थिति को विकृत रूप में दिखाना है।.........स्वतंत्रता सहज ही शान्ति से अधिक मौलिक आवश्यकता है, क्योंकि शान्ति के नाम पर स्वतंत्रता की बलि देने से स्वतंत्रता तो जाती ही है, शान्ति भी हाथ नहीं आती।"

संसार की शान्ति कौन भंग कर रहा है? दूसरों के अपनी परंपराओं के अनुसार जातीय जीवन के निर्माण में कौन बाधा डाल रहा है? एशिया के देशों को किसने गुलाम बनाया है और बनाये रखना चाहता है? ज़ाहिर है कि जो शान्ति का दुश्मन है, वह स्वाधीनता का भी दुश्मन है। फिर अज्ञेय के लिये पहले स्वाधीनता फिर शान्ति का सवाल क्यों उठता है? इसलिये उठता है कि अज्ञेय जी और उन जैसे कलाकार क्या लिख रहे हैं, किसके लिये लिख रहे हैं, यह असमंजस में डालने वाले सवाल आप न करें। जो लोग युद्ध-प्रचार करना चाहते हैं, जैसे "नया समाज", वे इस काम में स्वाधीनता पूर्वक लगे रहें, जो लोग "तटस्थ" रह कर साहित्य की सेवा कर रहे है, जैसे "प्रतीक"

और "आलोचना", वे इस काम में लगे रहें। हिन्दुस्तान की जनता जो शान्ति और सुखी जीवन के लिये संघर्ष कर रही है, उससे साहित्य को "स्वाधीन" रखा जाय। कलाकार की स्वाधीनता का यही रहस्य है।

रूपाकारों में प्रयोग करने की स्वाधीनता को हिन्दी में "प्रयोगवाद" का नाम दिया गया है। यद्यपि इन "प्रयोगवादी" कविताओं में बहुत सी ऐसी रचनाएँ भी शामिल कर ली जाती हैं जो प्रयोगवाद-विरोधी हैं, फिर भी प्रयोगवाद अज्ञेय जैसे कलाकारों की सामाजिक उत्तरदायित्व से बरी होने की माँग है।

प्रयोगवाद का कला-सिद्धान्त है, कला कला के लिए। उसकी विषय-वस्तु पराजय और कुंठा के रस में डूबी हुई है; उसका रूप कुरूपता का पर्याय है।

अज्ञेय जी कहते हैं—

"लता टूटी, कुरमुराता मूल में है सूक्ष्म भय का कीट।"

प्रयोगवाद भयग्रस्त प्राणियों की पुकार है। यह भय उन्हें भविष्य से है, जन-आन्दोलन से है, अपनी साहित्यिक परंपराओं से हैं जिनसे बचकर वह अपनी मौलिकता प्रमाणित करने के लिये बुरी तरह उत्सुक दिखाई देते हैं।

पराजयवादी कवि कहता है—

"ख़त्म हमदर्दी
ख़त्म—
साथियों का साथ।
रात आयेगी मूँदने सब को।"

बच्चन ने पहले ही ज्यादा मधुर स्वरों में मृत्यु और निराशा के गीत गाये थे, उसी परंपरा को ये कवि और कुघड़ रूप में हमारे सामने रख रहे हैं।

"ज़र्द आहें हैं, ज़र्द है यह शाम;
सभी राहें हैं नाकाम।"

एज़्रा पाउंड और टी० ऐस० इलियट का सस्ता हिन्दुस्तानी संस्करण!

"कथा बनी, बनी, बनी—
कहीं नहीं गयी। लिखी नहीं गयी।

मिली—हृदय में गुनी—
मधुर मधुर सुर।
अल्प हास—
एक स्वप्न प्यास। अथक स्नेहरास।
"तुम। तुम। तुम।

कहीं नहीं गयी, लिखी नहीं गयी, फिर भी कविता बन गयी! स्वप्न-प्यास लिये कवि बेचारा कहता रह जाता है। खैर, यहाँ कुछ स्नेह और स्वप्न की बात तो है। लेकिन कभी कभी प्रयोगवादी कवि के लिये जो अनुभव और अनुभूति सबसे महत्वपूर्ण होती है, वह साधारण पाठकों की कल्पना में नहीं आ सकती।

"लुढ़की सुराही, तो
हुचक-हुचक पानी ढुरा
गर्द भरे खुँदे हुए फर्श पर चुपचाप।
देख-देख मन कैसा हुआ।"

विषय वस्तु में निकम्मापन, निरर्थकता, निरुद्देश्यता, कभी लुढ़की सुराही पर कभी अपने पर अतुकान्त आहें भरना, यह है प्रयोगवाद। इन कवियों के लिये जन-जीवन या तो है नहीं या है तो उन्हीं जैसा विकृत और निरुद्देश्य। अज्ञेय जी कहते हैं—

"हम एक लंबा साँप हैं—
जो बढ़ रहा है ऐंठता-खुलता, सरकता रेंगता।
मैं—न सिर हूँ (आँख तो हूँ ही नहीं)
दुम भी नहीं हूं
औ' न मैं हूं दाँत ज़हरीले।
मैं—कहीं उस साँप की गुंजलक में उलझा हुआ सा
एक बेकस जीव हूं।"

कौन लंबा साँप है, कवि या शरणार्थी या दोनों? जो भी हो, यह साँप बिना दुम और बिना सिर का है, इसलिये यह कविता भी प्रयोगवाद की बहुत बढ़िया मिसाल है।

परेशानी सिर्फ इतनी है—

आसन्न युद्ध संकट,
बुद्धि को बचाओ
वैचारिक दासता से,
रूस के जन प्रकृत जन नहीं
राज्यद्वारा संचालित
श्रम संस्कृति है।
प्रेम से सुराही लुढ़काओ,
करने दो न तुम शान्ति भंग
प्रगति लेखक संघ को।

(२)

जैनेन्द्र जी ने सुनीता में जो भाभीवाद शुरू किया था, यशपाल जी ने मानों वही सूत्र "दादा कॉमरेड" में पकड़ लिया था। वही आतंकवादी, वही साड़ी-जंपर उतार परिस्थिति। "दादा कॉमरेड" से लेकर "मनुष्य के रूप" तक यशपाल ने यथार्थ के किस अंश को प्रतिबिंबित किया है? बुनियादी तौर से यशपाल की समस्याएँ वही हैं जो अज्ञेय और जैनेन्द्र की हैं। उपन्यास का "हीरो" आत्मपीड़ा के ज़रिये नारी—एक या अधिक—की करुणा जगाता है और यह नाटक ही उसके जीवन की सब से महत्वपूर्ण क्रिया है। प्रेमचंद को छोड़ दीजिये, वृंदावनलाल वर्मा, अमृतलाल नागर, नागार्जुन आदि के कथा-साहित्य के पात्रों से यशपाल के नायकों की तुलना करें तो मालूम हो जायगा कि जिस राजनीति का अनुसरण करने का वह दम भरते हैं, वह उनके लिये एक नारा भर है। वह राजनीति जनता के जीवन की समझबूझ से पैदा नहीं हुई; वह सुनीता की परंपरा पर चिपकाई हुई कागज़ की स्लिप मात्र है जो हवा में इधर उधर खड़खड़ाया करती है। यशपाल का सबसे प्रभावशाली उपन्यास "दिव्या" है, कारण कि यहाँ राजनीति की स्लिप खड़खड़ाती नहीं है। "पार्टी कॉमरेड" या "देशद्रोही" से उनके नायकों का रोमांस निकाल दीजिये, उपन्यास का ढाँचा चरमरा कर बैठ जायगा।

यशपाल के उपन्यासों से शिक्षा यह मिलती है कि अच्छे उपन्यास लिखना सिर्फ कौशल की समस्या नहीं है। सवाल है कि हीरो और उसके सामाजिक अमल में परस्पर संबन्ध किस तरह बिठाया जाय। यूरोप और अमरीका के पूँजीवादी लेखक या तो अपने 'हीरो' को शुद्ध विचारक बना देते हैं जो हर समस्या पर लंबे लंबे भाषण देता है लेकिन जिसका अमली जीवन से बहुत कम संबन्ध रहता है। ऐसे उपन्यास में हीरो होता है लेकिन कथा नहीं होती। कथा बनती है, हीरो के काम से। लेकिन निकम्मे वर्ग के "हीरो" को काम से क्या काम! वह काम करता है तो पिस्तौल लेकर डकैती और हत्या के काम करता है। इस तरह के हीरो का चरित्र डाकुओं और हत्यारों का होता है और इस तरह के सनसनीखेज़ कारनामों से कहानी बनती है। इस तरह हीरो का वर्ग-रूप कथा के शिल्प पर भी असर डालता है।

यशपाल के नायक भी आत्मपीड़ा के शिकार हैं। उनका उच्चतम उद्देश्य नारी की करुणा हासिल करना है। यह अभिनय यशपाल के उपन्यासों में बार बार दोहराया गया है। यशपाल के उपन्यासों की सेक्स-सज्जा हिन्दी के आलोचकों और पाठकों से छिपी नहीं है। उस पर हिन्दी में अनेक लेख भी निकल चुके हैं। सवाल यह है कि यशपाल और उन जैसे उपन्यासकारों में यह सेक्स-सज्जा इस भोंड़े रूप में क्यों प्रकट होती है? इसका कारण स्पष्ट है। प्रेमचन्द और उनकी परंपरा के कथाकारों से यशपाल की तुलना करने पर बात साफ़ हो जायगी। ये कथाकार बुनियादी तौर से अपने पात्र जनसाधारण से चुनते हैं और जनसाधारण में किसान मजदूर ही नहीं, मध्यम वर्ग के लोग भी हैं। यशपाल के पात्र जनजीवन के प्रतिनिधि नहीं हैं। वे उस वर्ग के लोग हैं जिनके लिये सेक्स और आत्मपीड़ा की समस्याएँ प्रधान हैं। इसलिये उनके साथ ग़लत या सही राजनीति जोड़ देने से ही वे प्रगतिशील नहीं हो जाते।

"देशद्रोही" का नायक चंदा से कहता है कि उसे ज्वर हो आता तो "मैं आपके पास आकर लेट रहता। मेरा सिर दबाना पड़ता। आपको ज़हमत होती और मुझे अच्छा लगता।" चंदा कहती है कि वह तो बिना बीमार हुए भी लेट सकता था। वह जवाब देता है, "वैसे तो लेटा ही हूँ परंतु बीमार का अधिकार अधिक हो जाता है।" तब चन्दा किस तरह उसे सहारा दे? उत्तर

मिलता है, "गोद में स्थान देकर ।" इस तरह का वात्सल्य रस वह चंदा से ही नहीं चाहता। "खातून के हृदय में डाक्टर के लिए एक वात्सल्यपूर्ण ममता उमड़ आई।" उपन्यास के अन्त में आत्मपीड़ा का नाटक क्लाईमैक्स पर पहुँच जाता है। घायल खन्ना की प्राणशक्ति क्षीण हो रही है। "सिर पत्थरों के ढेलों पर टिका था परंतु मन में विश्वास था, चन्दा उसका सिर गोद में लिये है, जीवनसंग्राम में फिर से लड़ने के लिए वह स्वास्थ्य लाभ कर रहा है।" अफसोस की बात यह है कि इस जीवन-संग्राम में एक जीता जागता किसान या मजदूर नहीं दिखाई देता। यह संग्राम जनता के अधिकांश भाग को उपन्यास से बाहर रख कर चलता है।

"पार्टी कॉमरेड" में फौजी लारियों के सामने जनता तो भागती है, गुंडा भावरिया उन्हें ललकारता है। "......फिर एक लारी आगई। लोग भागने लगे। भावरिया ने गाली दे चिल्लाकर कहा—'भाग कर कहाँ जाओगे?"

जनता को गाली; गुंडे की बहादुरी।

ज़ख्मी होकर—"देशद्रोही" के खन्ना की तरह—भावरिया गीता की करुणा उकसा लेता है। गीता आकर उससे मिल सकती थी लेकिन एक बाधा थी—पार्टी का अनुशासन। आखिर भावरिया बिना मिले ही संसार छोड़ जाता है।

अपनी कुछ कहानियों में यशपाल ने यह आत्मपीड़ा और राजनीति की स्लिप चिपकाने का नाटक भी नहीं किया। उन में भोंडा सेक्स-वर्णन हिन्दी के अनेक साड़ी-जंपरवादी कलाकारों की परंपरा के अनुकूल हुआ है। यशपाल अपने कथासाहित्य में रूढ़िवाद से लड़ने वाली दृढ़ नारी का चरित्र नहीं दे पाते, कारण कि उसके प्रति उनका दृष्टिकोण सामंती-पूंजीवादी भोग-वादियों का है। इस भोगवाद को उन्होंने विज्ञान का रूप देने की भी कोशिश की है।

"मार्क्सवाद" नाम की पुस्तक में यशपाल जी कहते हैं, "संक्षेप में स्त्री पुरुष और विवाह के संबंध में मार्क्सवाद समाज के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के विचार से पूर्ण स्वतंत्रता देता है परन्तु उच्छृंखलता और गड़बड़ या

भोग को पेशा बना लेने को और उसके साथ अपनी वासना के लिये दूसरे व्यक्तियों और समाज की जीवन-व्यवस्था में अड़चन डालने को वह भयंकर अपराध समझता है। स्त्री-पुरुष के संबन्ध में मार्क्सवाद का रुख लेनिन की एक बात से स्पष्ट हो जाता है। लेनिन ने कहा था, स्त्री पुरुष का संबन्ध शरीर की दूसरी आवश्यकताओं भूख, प्यास, नींद की तरह ही आवश्यक है। इसमें मनुष्य को स्वतंत्रता होनी चाहिए परंतु प्यास लगने पर शहर की गंदी नाली में मुंह डाल कर पानी पीना उचित नहीं। उचित है, स्वच्छ गिलास से स्वच्छ जल पीना।"

लेनिन ने इससे ठीक उल्टी बात कही थी। स्वच्छ गिलास से स्वच्छ जल पीने की थ्योरी का घोर विरोध किया था। यशपाल का जोर इस बात पर है कि भोग को पेशा न बनाया जाय। भूख, प्यास, नींद की तरह सेक्स की इच्छा भी पूरी होनी चाहिये लेकिन गंदी नालियों में मुँह डालकर नहीं। वास्तव में स्वच्छ गिलास में स्वच्छ जल पीने का सिद्धान्त सेक्स के बारे में पूँजीवाद का सिद्धान्त है जिसे धनी लोग नित्य प्रति अमल में लाते हैं। उन्हें डर लगता है तो सिर्फ गंदी नालियों की छूत लगने से। अगर स्वास्थ्य विभाग स्वच्छ जल का सार्टीफिकेट दे दे तो उन्हें जलपान करने में कोई अड़चन नहीं होती। यह धारणा मार्क्सवाद की स्थापनाओं के बिल्कुल विपरीत है, ऐसा मानना होगा।

लेनिन ने स्वच्छ-जलवादियों के बारे में क्लारा जेट्किन से कहा था, "हालाँकि मैं मुहर्रमी संत नहीं हूँ, फिर भी नौजवानों की—और कभी कभी बुजुर्गों की भी यह तथाकथित 'नयी सेक्स जिंदगी' मुझे एकदम पूँजीवादी मालूम होती है, पूँजीवादी चकलों का ही प्रसार मालूम होती है। हम कम्युनिस्ट प्रेम करने की स्वाधीनता से जो कुछ भी समझते हैं, उससे इसमें कुछ भी मेल नहीं है। तुम्हें उस मशहूर थ्योरी का पता होगा कि कम्युनिस्ट समाज में यौन इच्छाओं का, प्रेम का पूरा करना उतनी ही आसान और महत्वहीन बात होगी जैसे पानी का ग्लास पीना। इस पानी के ग्लास की थ्योरी ने हमारे नौजवानों को पागल बना दिया है, एकदम पागल। बहुत से नौजवान लड़के-लड़कियों के लिये वह घातक साबित हुई है। इसके अनुयाइयों का दावा है

कि यह मार्क्सवादी थ्योरी है। लेकिन शुक्रिया ऐसे मार्क्सवाद को जो समाज के बौद्धिक जगत् के तमाम संघटनों और परिवर्तनों का सबब तुरंत और सीधे-सीधे आर्थिक आधार में ढूँढ़ लेता है। बात इतनी सीधी नहीं है। एक था फ्रेडरिक एंगेल्स जिसने यह बात ऐतिहासिक भौतिकवाद के बारे में बहुत पहले कही थी।

"मैं समझता हूँ कि यह पानी के ग्लास की थ्योरी पूरी तरह गैर-मार्क्सवादी है और इसके अलावा समाज-विरोधी भी है। यौन जीवन में साधारण कुदरत का ही खयाल नहीं करना होता, बल्कि सांस्कृतिक विशेषताओं पर भी विचार करना होता है कि वे ऊँचे या नीचे स्तर के हैं। "परिवार की उत्पत्ति" नाम के अपने ग्रंथ में एंगेल्स ने दिखलाया था कि आम यौनवासना का विकास और एक-नारी-प्रेम (individual sex love) में उसका संस्कार कितना महत्वपूर्ण है। स्त्री-पुरुष के परस्पर संबन्ध समाज के अर्थतंत्र और शारीरिक माँग के बीच शक्तियों के घात-प्रतिघात का ही प्रतिफलन नहीं हैं, जो शारीरिक पहलू से, चिंतन में, अध्ययन द्वारा विलग हों। यह तर्कवाद (रैशनलिज्म) है,न कि मार्क्स वाद कि हम इन संबन्धों में तब्दीली को समाज की आर्थिक बुनियाद से नत्थी कर दें और संपूर्ण विचारधारा से उनके संबन्धों को न देखें। निःसन्देह प्यास बुझानी चाहिए। लेकिन क्या कोई होश हवास का आदमी साधारण परिस्थितियों में नाली में लेट जायगा और चहबच्चों से पानी पियेगा या ऐसे गिलास से पानी पियेगा जो बहुत से ओंठ लगने से चिकना हो गया हो? लेकिन उसका सामाजिक पहलू सबसे महत्वपूर्ण है। पानी पीना बेशक किसी का निजी काम है। लेकिन प्रेम में दो जिन्दगियों का संबन्ध होता है और एक तीसरी, नयी जिंदगी पैदा होती है। इससे उसमें सामाजिकता का सवाल उठता है, जिससे समाज के प्रति कर्तव्य पैदा होता है।

"एक कम्युनिस्ट की हैसियत से मुझे पानी के ग्लास की थ्योरी से जरा भी हमदर्दी नहीं है हालाँकि उस पर "प्रेम की तृप्ति" का सुन्दर लेबिल लगा हुआ है। कुछ भी हो, यह प्रेम की मुक्ति न तो नयी है, न कम्युनिस्ट है।"

इस लंबे उद्धरण से ज़ाहिर हो जायगा कि यशपाल ने आर्थिक बुनियाद के बदलने पर जिस तरह यौन-संबन्धों के बदलने की कल्पना की है, वह मार्क्स-

वाद है या पूँजीवादी नैतिकता (या पूँजीवादी व्यभिचार) का ही एक संस्करण है। उनके कथा-पात्रों में चरित्र की वह दृढ़ता नहीं है जो पूँजीवादी व्यभिचार को चुनौती दे, जो सर्वहारा नैतिकता को एक आदर्श के रूप में जनता के सामने रखे। दलील दी जाती है कि यशपाल ने यथार्थवादी उपन्यास लिखे हैं; आदर्शपात्र नहीं चित्रित किये। पहले तो आदर्शपात्र चित्रित करने और यथार्थवादी उपन्यास लिखने में कोई मौलिक विरोध नहीं है; यथार्थ में जो उभर रहा है, कल के समाज की नींव बनने वाला है, उस सत्य को उद्घाटित करना कथाकार का कर्तव्य हो जाता है। दूसरे यशपाल के पात्र एक वर्ग-विशेष और मनोवृत्ति के पात्र हैं और उनकी नैतिकता वैसी ही है जैसे जैनेन्द्र, अज्ञेय और अश्क के पात्रों की। इसका नतीजा यह हुआ है कि यशपाल नारी की पराधीनता के वैसे चित्र भी नहीं दे पाये जैसे प्रेमचन्द ने पहले महायुद्ध में ही या वृंदावनलाल वर्मा ने "लगन", "कुंडलीचक्र" आदि में या निराला ने "अलका" आदि में दिये हैं। यशपाल के उपन्यास नारी की पराधीनता के सवाल को यथार्थवादी ढंग से छूते ही नहीं हैं लेकिन प्रगतिशीलता के नाम पर पूँजीवादी व्यभिचार का चित्रण करके वह एक तरफ तो प्रगतिशीलता को एक अच्छी रोजगार की चीज बना देते हैं, दूसरी तरफ उन ईमानदार पाठकों को प्रगतिशील साहित्य से दूर ठेल देते हैं जो पुराने साहित्य के अलावा इंसान की ज़िंदगी पर नये दृष्टिकोण से सोचना विचारना भी चाहते हैं।

प्रगतिशील साहित्य नारी की स्वाधीनता का पक्षपाती है। वह संपत्ति, जाति और धर्म के विचार से किये हुए विवाहों की वेदी पर देश के युवक-युवतियों के प्रेम की बलि देने का सख्त विरोधी है। वह उनके प्रेम करने के अधिकार और जीवन में एक साथ रहने और संघर्ष करने के अधिकार का समर्थन करता है। जब तक प्रेम के अतिरिक्त विवाह के लिये जाति, धर्म, संप्रदाय, संपत्ति आदि की शर्तें रहेंगी, तब तक समाज में व्यभिचार, वेश्या वृत्ति, आदि व्याधियाँ भी रहेंगी। लेकिन ये व्याधियाँ शुद्ध ग्लास से शुद्ध जल पीने की थ्योरी से दूर नहीं हो सकतीं। यह मार्क्सवाद के विपरीत सामंती-पूँजीवादी नैतिकता का प्रतिपादन होगा।

"चक्कर क्लब" का "कॉमरेड" कालिदास और रवीन्द्रनाथ के साहित्य पर यह राय देता है, "किसी समय के राजाओं और सामन्तों के लिये इसका उपयोग था। कामनापूर्ति के साधन उनके पास बहुतेरे थे; परंतु शरीर थककर शिथिल हो जाता था। कामना की आग को जलाने के लिए ऐसा साहित्य उपयोगी था जैसे अधिक भोजन पचा सकने के लिये चूरन का उपयोग होता है।"

जाहिर है, यह साहित्य के प्रति मार्क्सवादी दृष्टिकोण नहीं बल्कि उसकी फूहड़ नकल है।

"चक्कर क्लब" में हम पढ़ते हैं, "किसी की तृप्ति कवि रवीन्द्र की कविता में कामिनी को समीप बैठा कर हो जाती है तो किसी की साहित्यिक तृप्ति अंगिया दबाने का चर्चा किये बिना नहीं होती। क्यों जी, सिर खुजाते हुए कामरेड की ओर देख उन्होंने पूछा—'क्या है वह गीत, न ताको जोबन सरकारी है, बच के रहोजी।' "

मार्क्सवाद को झुठला कर पूंजीवादी नैतिकता को किस तरह "वैज्ञानिक" बनाकर पेश किया जाता है, ऊपर इसकी मिसाल है। यशपाल के पात्र यथार्थ जीवन का चित्रण करने के कारण फूहड़ नहीं है; उनके पास अपने फूहड़पन को वैज्ञानिक कहकर पेश करने के लिये एक थ्योरी भी है।

प्रसाद, निराला, प्रेमचन्द, रामचंद्र शुक्ल ने साहित्य में जिस नायिका-भेद का विरोध किया था, यशपाल ने उसे यथार्थ-चित्रण के नाम पर फिर प्रतिष्ठित किया है। "आंखें भी छुरे के फले जैसी लंबी-लंबी नोकदार, खूब उजली। माथे पर त्योरी चढ़ा देखती तो ऐसा लगता, नज़र सीने में गड़ा देगी।" यह किसी लोफर पात्र की बातचीत नहीं है। खुद कलाकार यशपाल "पार्टी कॉमरेड" की नायिका का नखशिख वर्णन कर रहे हैं।

और भी—

"शंख के समान ग्रीवा का मार्दव मुक्तावलियों से घिर कर और अधिक उद्भासित हो रहा था। रक्त कौशेय में पीठ पीछे खिंचकर पूर्ण गोलार्ध बने उरोज बंधन में आकर, वागुरा खिंचे अश्व की भांति और अधिक मुखर हो उठे थे।"

शरीर थककर शिथिल होने पर किसी सामन्त की कामना को उकसाने के लिये किसी दरबारी कवि ने यह नहीं लिखा। यह लिखा है "दिव्या" का नखशिख वर्णन करते हुए यशपाल जी ने। निःसन्देह नायिकाभेद के तमाम साहित्य में उरोज अश्व की भांति मुखर होते हुए न तो दिखाई देंगे न सुनाई पड़ेंगे। इस बात में यशपाल सबसे बाज़ी मार ले गये हैं।

"चक्कर क्लब" का "दर्शनिक" सामन्ती-पूंजीवादी विवाह प्रथा के मुकाबले में "घंटे भर प्रेम" का नुस्खा पेश करते हुए कहता है, "यदि किसी स्त्री को धोखा न देकर अपने हृदय की तृप्ति के लिये घंटे भर प्रेम करना चाहती है तो वह कुलटा है और यदि वह अपने जीवन और अपनी संतान के जीवन निर्वाह का कोई दूसरा उपाय न देख या समाज के भय से अपना शरीर जन्म भर किसी पुरुष की आवश्यकता पूर्ति के लिये दे देती है तो वह सती है!"

ज़ाहिर है, सती के नाम पर गुलामी और घंटे भर प्रेम यानी व्यभिचार के बीच प्रेम का रास्ता भी है लेकिन 'चक्कर क्लब' का दार्शनिक उसकी विवेचना नहीं करता।

"प्रतिष्ठा के बोझ" का केवलचंद पड़ोस की सास-बहू से एक साथ प्रेम करके घंटे में एक नहीं दो प्रेम निबाहता है। केवलचंद जब बहू लक्ष्मी के कमरे में पहुँचा तो "उसने लक्ष्मी को बाहों में इतने जोर से समेट लिया कि जैसे उसे अपने शरीर में ही समो लेगा! वह उसके होठों को खा जाना चाहता था। उसके हाथ उच्छृङ्खल हो रहे थे।" लेकिन तभी बत्ती लिये कमरे में सास आ गई। केवलचंद ने लक्ष्मी को फर्श पर गिर जाने दिया और "सास के भरपूर शरीर को बाहों में ले, समीप पड़े पलंग पर गिरा दिया।" इसके बाद "जब सासने केवल की बाहों मुक्ति पायी तो केवल के गाल पर एक ठुनका दे, उसने शिकायत की —बड़े वैसे हो तुम!"

गत्यात्मक यथार्थवाद! सब से आसान क्रान्ति यौन संबन्धों में होती है। लेकिन यह क्रान्ति हमारे यहां सिंहासन बत्तीसी और किस्सा तोता मैना में ज्यादा कलापूर्ण ढंग से पहले ही हो चुकी थी।

मालूम होता है, ये तमाम केवलचंद "मनुष्य के रूप" में कम्युनिस्ट पार्टी के दफ्तर में इकट्ठे हो गये हैं। मनोरमा जब अपने नपुंसक पति को तलाक

देकर आती है तो "बहुत से कामरेड अपनी-अपनी जगह छोड़ संकोच से सिमटी जाती मनोरमा को घेर कर खड़े हो गये। उमेश ने गर्दन ऊंची कर बहुत जोर से पुकार कर कहा—'तो फिर अब!' और प्रोत्साहन की मुद्रा से हृदय पर हाथ रख लिया। पारो ने उमेश को कंधे से धक्का देकर फटकारा—हट, पागल! मंगल बोला—आखिर कोई तो आशा कर सकता है!........ न्यू बस हैज कम (नई गाड़ी चल रही है।)"

यशपाल के लिये सेक्स की तरफ मार्क्सवादी दृष्टिकोण क्या है, यह खुद मार्क्सवादियों के अमल से उन्होंने यहां दिखला दिया है। इस तरह का साहित्य जनता की सेवा किस तरह करता है और हमारी जातीय संस्कृति को किस तरह आगे विकसित करता है, यह बात हमारी समझ में नहीं आई। लेकिन इस दृष्टिकोण के लिये जहां यशपाल जिम्मेदार हैं, वहां उन आलोचकों की जिम्मेदारी भी कम नहीं है, जो उनके कथा साहित्य को प्रगतिशीलता का नमूना कहकर तारीफ़ करते रहे हैं।

यशपाल जी की तरह राहुल जी ने नायिकाभेद में यथेष्ट उन्नति की है। लेकिन उनका नायिकाभेद ऐतिहासिक भौतिकवाद के नाम पर, सामाजिक विकासक्रम में मनुष्य के आचार-विचार के चित्र देने के नाम पर है। एंगेल्स ने लिखा है कि पूंजीवादी लेखक जब आदिम व्यवस्था का चित्रण करते हैं, तब वे उसे मौजूदा पूंजीवादी समाज के व्यभिचार का चश्मा लगा कर देखते हैं। "वोल्गा से गंगा" में राहुल जी ने भी आदिम समाज-व्यवस्था के चित्र इसी तरह का चश्मा लगाकर खींचे हैं।

"दिवा अपने तरुण पुत्र वसु के साथ आज नाच रही थी। दोनों नग्न मूर्तियां नृत्य के तालमें ही कभी एक दूसरे को चूमती, कभी आलिंगन करती, कभी चक्कर काट कर भिन्न भिन्न नाट्य मुद्राएं दिखलातीं।" (पृ० २८)

अवस्था के लिहाज से प्रेमी प्रेमिकाओं के गुट बनना आदिम समाज में बहुत शुरू की मंजिलों में आरंभ हो जाता है। फिर यह समाज तो चक्कर काट कर नाट्य मुद्राएं बनाना तक जान चुका है। राहुल जी का चित्र विकृत और इतिहास-विरोधी है।

अधिकस्य अधिकं फलम् के न्याय से राहुल जी सुन्दर नायिकाओं का

काफिला इकट्ठा कर देते हैं। कैसा भाग्यशाली है सुदास! "नहाते वक्त कितनी ही बार सुदास ने अपाला के नग्न अरुण शरीर को देखा; किन्तु आज पचासों नग्न सुंदरियों के बीच उसके सौंदर्य की तुलना कर, इसे पता लगा, जैसे आज ही उसने अपाला के लावण्य की पूरी परख पायी है।" (पृ० १०७-६)

लेकिन इसमें राहुल जी का क्या दोष? वह तो ऐतिहासिक सत्य बयान कर रहे हैं! इस पर कोई नाक भौं क्यों सिकोड़े?

सवाल ऐतिहासिक सत्य का नहीं है। सवाल यह है कि इस तरह सामंतों के अंतःपुर का सौन्दर्य वर्णन करने वाले कवियों की रचनाएं राहुल जी को पसंद हैं या नहीं? वह दरबारी कवियों के इस नायिकाभेदी दृष्टिकोण के प्रति क्या रुख रखते हैं?

राहुल जी "हिन्दी काव्य धारा" में ऐसे ही एक कवि स्वयंभू के बारे में लिखते हैं, "और सामंत समाज के वर्णन में उसकी किसी से तुलना नहीं की जा सकती। किसी एक सुन्दरी के सौन्दर्य को जितना अच्छी तरह उसने चित्रित किया है, वह तो किया ही है, लेकिन सुंदरियों के सामूहिक सौंदर्य का वर्णन करने में उसने कमाल कर दिया है।"

स्वयंभू का अनुकरण करते हुए राहुल जी ने ऐतिहासिक भौतिकवाद को सामूहिक सौंदर्य के वर्णन से सरस बना दिया है। "सिंह सेनापति" में पूंजीवादी लेखक का आदर्श समाज साकार हो उठता है जब हम पढ़ते हैं, "देव कन्याएं मंडल बांधकर मुझे बीच में लिये नाच रही थीं। बीच बीच में जब मैं थककर विश्राम लेता, तो मधु क्षीर मिश्रित सोम का चषक ले देवांगनाएं आदर पूर्वक मुझे पिलाने के लिये तैयार रहतीं।" (पृ० ६८)

और भी—

"वहां प्रत्येक देवी उन्मुक्त देवी है, वह किसी की भार्या नहीं। वह पद्मसर में विहरने वाली भ्रमरी है, और चाहे जिस भी पद्मकोश में रात को बंद होने के लिये स्वतंत्र है।" (पृ० ६६)

सुन्दर! स्वच्छ ग्लास में स्वच्छ पानी! आदर्श साम्यवाद!

पुनश्च: "वह मुझे पुष्पित बन में ले जातीं, वहां अपने केशों को वनकुसुमों से सजाकर मेरे गिर्द बैठ कोई मेरे कानों में फूल रखती, कोई केशों में स्रज

बांधती, कोई मेरे कन्धे पर अपने कपोलों को रख पूछती—'प्रिय ! कैसी हैं वे मानवियां, जिनके लिये तुम हमें छोड़ जाना चाहते हो ?"

इस तरह ध्वस्त होती हुई सामंती संस्कृति को राहुल जी ने ऐतिहासिक चित्रण के नाम पर साहित्य में सुरक्षित रखा है। लेकिन सामन्तों के कल्पित स्वर्ग से इस समाज में क्या अंतर है ? अंतर केवल इतना है कि राहुल जी अपनी नायिकाओं की नस्ल का बड़ा खयाल रखते हैं। दिवा के नेत्र अलसी के फूल जैसे नीले हैं। नागदत्त कहानी में एक अनुपम सुन्दरी के शिर पर "मानों सुवर्ण के सूक्ष्म तंतुओं को वलित करके सजाया गया था।" अश्वघोष की मां के नेत्र सुवर्ण जैसे पीले हैं। और जब शुद्ध आर्य रक्त वाले देव और देवियां मिलते हैं तब उनके केश-दाढ़ी सम्मेलन से विचित्र दृश्य उपस्थित होता है, "उस वक्त देवों के केश दाढ़ियां तथा देवियों के सीमान्त अग्निस्कंध से निकलती ज्वाला रश्मियों से मालूम होते हैं।" (सिंह सेनापति, पृ० ६७)

राहुल जी के लिये इतिहास की मूल समस्या है—रक्त शुद्धि । आर्यों का जनतंत्र भ्रष्ट होता है, रक्त संमिश्रण की वजह से। और सामाजिक विकास की हर मंजिल में एक क्रिया साधारण है—मुक्त प्रेम ! इस दृष्टि से समाज में कोई विकास नहीं हुआ या कहना चाहिये कि प्रेम और सौन्दर्य के मामले में मनुष्य पूर्ण विकसित ही रचा गया था !

इतिहास को देखने की हमारे यहां एक और परंपरा है। वह परंपरा निराला की 'प्रभावती' वृंदावनलाल वर्मा की झांसी की रानी 'लक्ष्मीबाई' में दिखाई देती है। इस परंपरा में जनता अन्याय अत्याचार से पीड़ित और उसके खिलाफ संघर्ष करती हुई भी दिखाई जाती है। प्रभावती में निराला जी कहते हैं, "वह और ही युग था। एक ओर गांवों में गरीब किसान छप्परों के नीचे, दूसरी ओर दुर्ग में महाराज धनधान्य और हीरे-मोतियों से भरे प्रासादों में, फिर भी उन्हीं के फैसले के लिये, न्याय के लिये, जाना और उन्हें भगवान का रूप मानना पड़ता था।" वैज्ञानिक भौतिकवाद पर किताब लिखने के बावजूद राहुल जी में इस जनवादी दृष्टिकोण का अभाव है। वृंदावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासों में बुंदेलखंड की जनता सजीव हो उठती है, अपनी

जातीय विशेषताओं के साथ जिनमें उसकी रोमांसप्रि-यता भी शामिल है। लेकिन वर्मा जी के उन्यासों में जहां किसान-युवकों की सहज उमंग का वर्णन मिलता है, वहां राहुल जी के उपन्यासों में किसी व्यभिचारी महंत के विलास-स्वप्न ही दिखाई देते हैं।

ऐतिहासिक उपन्यास हमारे जातीय आत्मसम्मान को जगाते हैं, पूर्व पुरुषों के वीर कृत्यों का वर्णन करके आज साहस पूर्वक अन्याय का विरोध करना सिखाते हैं। विशेष रूप से ब्रिटिशराज के खिलाफ हमारी जनता के संघर्षों को लेकर लिखे गये उपन्यास आज की परिस्थिति में भी शान्ति और स्वाधीनता के संघर्ष में हमारी बहुत बड़ी सहायता करते हैं। इस दृष्टि से वर्मा जी का "लक्ष्मीबाई" उपन्यास अनुपम रचना है। उसमें हिन्दू मुस्लिम जनता का मिला जुला संघर्ष, अंग्रेजों के पाशविक अत्याचार, सामन्ती नायकों की शिथिलता और विलासिता जो देश के प्रति विश्वासघात की सीमा तक पहुँच जाती है, बुंदेलखंड की जनता का जीवन में अडिग विश्वास और देशप्रेम,—यह सब वर्मा जी ने बड़े कौशल से उपन्यास में दिखाया है। उनके साधारण पात्र भी स्मृति-पटल पर अंकित हो जाते हैं और अपने व्यक्तित्व में निराले होते हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों में हमें वह परंपरा अपनानी चाहिए न कि मुखर अश्व जैसे कुचों वाली नायिकाओं और चाहे जिस पद्मकोश में बंद हो जाने वाली भ्रमरियों की परंपरा।

इसी तरह मध्यवर्ग के चित्रण में हमें प्रेमचंद की "इस्तीफा" जैसी कहानियों की परंपरा अपनानी चाहिये। मध्यवर्ग के जीवन की समस्याएँ किसान-मजदूरों के जीवन की समस्याओं से काफी हद तक मिलती हैं। अक्सर हमारे कलाकार शिकायत करते हैं, हम तो किसान-मजदूरों को जानते नहीं, फिर क्या मध्यवर्ग के बारे में भी न लिखें? अवश्य लिखें लेकिन क्या लिखें?

कुछ कलाकारों के लिए मध्यवर्ग की जिंदगी के चित्रण का मतलब होता है, सेक्स संबन्धी विकारों का चित्रण। इसके सिवा उन्हें आज के उपनिवेशी समाज की चक्की में उनका जीवन पिसता हुआ नहीं दिखाई देता, कहीं वे

उस चक्कीके पाटों के खिलाफ कसमसाते नजर नहीं आते। पहाड़ी, कृष्णदास, राजेन्द्र यादव, शरत्‌जोशी आदि की कहानियों में मध्यवर्ग के ऐसे चित्र मिलते हैं जो उन्हें सेक्स की छटपटाहट के अलावा साधारण इंसान भी दिखलाते हैं। इस तरह के लेखक प्रेमचंद की परंपरा को लेकर आगे बढ़ते हैं।

लेकिन कुछ कलाकार मध्यवर्ग का बहाना करके दरअसल उसी सुनीतावादी परंपरा का अनुकरण करते हैं।

अश्क की "गिरती दीवारें" में अनंत चेतन को सलाह देता है कि जब पंप पर प्रकाशो पानी लेने आये तब वह उसे पकड़ कर अन्दर ले आये। प्रकाशो के आने पर तीन चार बार अनंत ने चेतन के कुहनी गड़ाई लेकिन वह टस से मस न हुआ और प्रकाशो "बाल्टी उठाकर अपने मोटे मोटे ओठों से मुस्कराती और अपने भारी कूल्हे मटकाती हुई चली गई।" और अनन्त ने फतवा दिया कि "वह एक दम नपुंसक है।" कहीं श्री धर्मवीर भारती ने कथा साहित्य के नपुंसक-नायकों पर लेख लिखा था। अश्क जैसे कलाकर उनकी संख्या इतनी तेजी से बढ़ा रहे हैं कि भारती जी अब उन पर पूरा थीसिस लिख सकते हैं।

नीला और चेतन की प्रेम कहानी पर "गिरती दीवारें" के लंबे-लंबे अध्याय पढ़ते हुए आदमी ऊब उठता है। इस कदर उथलापन हिन्दी उपन्यासों में मुश्किल से मिलेगा। कहीं प्रकाशो के सिर से दुपट्टा खिसक जाता है, उसकी छोटी आँखें कुछ विचित्र आकांक्षा से फैल जाती हैं और चेतन का जी चाहता है कि "उसे अपने आलिंगन में लेकर इतना दबाये कि उसका दम निकल जाय।" लेकिन वह उसके चुटकी काट कर रह जाता है। और बदले में प्रकाशो उसके चुटकी काट लेती है। महान् मनोवैज्ञानिक चित्रण! हाँ एक बार चेतन ने प्रकाशो के पतले ब्लाउज़ में छाती के मोटे से बटन पर चुटकी काट दी! महान् यथार्थवादी चित्रण!

शेखरपंथियों का सबसे बड़ा सहारा है बीमारी। चेतन भी बिस्तर पर जा लेटता है और "उसने अपने मस्तक पर ठण्डा, प्यारभरा हाथ फिरता हुआ महसूस किया और उसके कानों में आवाज आई—मधुर और मादक 'जीजा जी!' " यह नीला थी।

और जब नीला उसके ऊपर झुक जाती है—सूखे सोते पर सप्तपर्णी की तरह तब "एक बार उसे प्रबल आकांक्षा हुई कि उसके गले में बाहें डालकर वह उसे चूम ले। पर उसने बालों को ही चूमा।"

दूसरी बार "अपनी पीठ के साथ नीला के स्वस्थ वक्ष का परस और उष्णता अनुभव करते ही चेतन के हाथ फिर काँपने लगे।"

और जब नीला दूध का खाली गिलास अलग रखकर हटने लगी तो "अचानक दायें हाथ से उसे अपने आलिंगन में भर कर चेतन ने उसे चूम लिया।"

ड्रापसीन।

नतीजा यह कि चेतन को लगता है कि संसार के सभी पुरुषों के बीच अगनित दीवारें खड़ी हैं, इन दीवारों का कोई अन्त नहीं है। यथार्थ को इस गत्यात्मक रूप में श्री उपेन्द्रनाथ अश्क ने देखा है। साहित्य के छिछलेपन का दूसरा नाम है अश्क।

सन् ३४–३५ के बाद से हिन्दी में यह साड़ी-जम्पर साहित्य की परम्परा बढ़ती, फलती-फूलती रही है। इसे कुछ लोग प्रगतिशील क्यों कहते हैं, यह समझना कठिन है। यह प्रसाद के "तितली" और प्रेमचन्द के "गोदान" की परम्परा को आगे नहीं बढ़ती बल्कि उसका सक्रिय विरोध करती है। इस-शेखर-चेतनवाद को प्रगतिशील ठहराने के लिये ही मानों प्रगतिशीलता की शुद्ध कला-वादी परिभाषाएँ की जाती हैं जिनमें जनता की तरफ़ लेखक की जिम्मेदारी अस्वीकार की जाती है। लेकिन अब यह परम्परा अपने ह्रास की सीमा तक पहुँच गई है और ज्यादा दिन तक हिन्दी पाठकों को उससे बहलाया न जा सकेगा।

राष्ट्रीय स्वाधीनता और प्रगतिशील साहित्य*

(१)

भारत में अहिंसात्मक क्रान्ति हुए चार साल हो गये। क्रान्ति के नेताओं को गद्दी पर बैठे पांच साल हो गये—क्रांति के पहिले ही गद्दी पाना उस क्रान्ति की अहिंसात्मक विशेषता थी। यह क्रान्ति अंग्रेज़ साम्राज्यवादियों की पूरी रज़ामन्दी के साथ हुई। हिन्दुस्तान की कोयले की खानों, बागानों, जूट के कारखानों वगैरह पर अंग्रेजों का हक कायम रहा; उधर भारत ब्रिटिश सम्राट् के नीचे ब्रिटिश कॉमनवेल्थ यानी ब्रिटिश साम्राज्य के अन्दर बना रहा। वारेन हेस्टिंग्स ने जैसे अवध की बेगमों को लूटा था, वैसे ही अंग्रेज सरमायेदार भारत की जनता से करोड़ों रुपये लूटते रहे। अहिंसात्मक क्रान्तिकारियों ने अंग्रेज़ी पूंजी को हज़म नहीं किया वरन् अंग्रेज और अमरीकी पूंजीपतियों से दरख्वास्त की कि वे और सरमाया लगायें और देश की जनता को लूटकर बाहर मुनाफा भेजें। अहिंसात्मक क्रान्ति से सामन्ती अवशेष सुरक्षित रहे और इजारेदारों की लूट में वृद्धि हुई। इस लूट की बहती गंगा में अहिंसा के पुजारियों ने हाथ ही नहीं धोये, आंख कान बन्द करके गोते भी लगाये।

नतीजा यह कि राष्ट्रीय स्वाधीनता का उद्देश्य अपूर्ण रहा और उसके पूरे हुये बिना—अंग्रेजों और उनके सामन्ती और इजारेदार सहायकों का प्रभुत्व खत्म किए बिना—यह नामुमकिन था कि देश की जनता की आर्थिक या राजनीतिक उन्नति होती। उन्नति होना तो दूर, अवनति को रोकना भी दूभर हो गया और जनता को ऐसे भयानक सङ्कट का सामना करना पड़ रहा है, जैसे उसे सन् ४७ के पहले भी न करना पड़ा था।

कांग्रेस की दिवालिया राजनीति और जनता को लूटने वाली अर्थनीति के समान ही उसका संस्कृति-सम्बन्धी काम रहा है। उसने जिस दर्शन-शास्त्र का सोते जागते पांच साल से प्रचार किया है, उसका उद्देश्य है—मौजूदा

* यह लेख सन् '५१ में लिखा गया था।

व्यवस्था को कायम रखना और जनता के प्रतिरोध को दबा देना । इस दर्शन-शास्त्र का नाम है—गांधीवाद । इस दर्शन के मुताबिक साम्राज्यवादियों का हृदय-परिवर्तन करके स्वराज्य हासिल होता है, इजारेदारों को ट्रस्टी बनाकर बेकारी बढ़ाई जाती है और मज़दूर की मजूरी मारकर मुनाफाखोरी की जाती है, सामन्तों और जमीदारों के लिए प्रिवीपर्सों और मुआवजे का प्रबन्ध होता है और भूखे किसानों पर गोलियां चलाई जाती हैं । एक दूसरा दर्शन "आर्य संस्कृति" का है जिसके उपासक और प्रचारक कांग्रेस के बाहर तो हैं, ही उसके भीतर भी हैं । इसके मुताबिक तमाम फसाद की जड़ मुसलमान हैं । इनका सफाया कर दो, न फसाद रहेगा, न फसाद की जड़ । इस संस्कृति के उपासक शङ्कर व्यापारियों के लिये जनता की जेब काटकर सोमनाथ का मन्दिर बनवाते हैं, अमरीकी जंगबाजों को जनतंत्र का अवतार कहकर देश-विदेश के मामलों में उनके प्रति वफादारी निबाहते हैं, साहित्य-सम्मेलन के अखिल भारतीय मंच से खास तौर पर आर्य संस्कृति, आर्य भाषा और आर्य जाति के उद्धार के लिये प्रतिज्ञाएं करते हैं । कांग्रेसी राज्य में साम्राज्यवादी शिक्षा-पद्धति और शिक्षा की पुस्तकें कायम ही नहीं हैं—उनमें इजाफा हुआ है । अमरीकी युद्ध प्रचारकों को अपना जहर फैलाने की पूरी छूट है, देशी-विदेशी प्रगतिशील साहित्य पर हर तरह की रोक है । कांग्रेसी सरकार ने तीन बार सोवियत लेखकों को भारत आने से रोका है जबकि लियाकत और ऐटली की हुकूमतों तक को उन्हें आने की इजाज़त देनी पड़ी थी । पेरिस की शान्ति-कांग्रेस में शामिल होने और सोवियत संघ जाने के लिए मुल्कराज, कृष्णचन्दर, अलीसर्दार वगैरह पर पाबन्दी उसके संस्कृति प्रेम के उदाहरण हैं । अन्ध-विश्वास, साम्प्रदायिक विद्वेष, पुनरुत्थानवाद, नग्न शृङ्गारिकता—सांस्कृतिक क्षेत्र में ये पौधे सींचे जा रहे हैं । कांग्रेसी राज्य में बड़े-बड़े कोश निर्मित हुए हैं जिन पर जनता की गाढ़ी कमाई के लाखों रुपये खर्च किए गये हैं । डा० रघुवीर और महापंडित राहुल ने इतने कोश तैयार किये हैं कि उनसे हिन्दी ही नहीं, भारत की तमाम भाषाएं कई हजार साल तक बेधड़क शब्द उधार ले सकती हैं । कांग्रेसी शासकों ने साहित्य के उद्धार के लिए अखबार निकाल रखे हैं, रेडियो में श्री सुमित्रानन्दन पन्त जैसे कुछ कलाकारों को हज़ार-हज़ार रुपये वेतन पर रख

छोड़ा है कि वे उनका यश गाया करें। उधर प्रगतिशील लेखकों में बहुतों को जेल भेजा, बाकी पर ऐसे निगरानी रखी जैसे इनकी कलम की नोकसे ही कांग्रेसी सत्ता उलट जायगी और सरकारी नौकरों के लिए फर्मान निकाल दिया कि कोई प्रगतिशील लेखक संघ के पास न फटके! भाषावार प्रान्त बनाने के वादे सपने हो गए। पिछड़ी हुई जातियों की भाषाओं को फलने फूलने का कोई अवसर नहीं। जनता की निरक्षरता दूर करने और आम शिक्षा का प्रचार करने का कोई प्रबन्ध नहीं।

हिन्दुस्तान में सबसे पहले कम्युनिस्ट पार्टी ने इस आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक बर्बादी लाने वाली "आज़ादी" का पर्दाफाश किया। उसने भारतीय जनता को आगाह किया कि आजादी हासिल करना अभी बाकी है, जमीन किसान को मिलना बाकी है और आजादी और जनतन्त्र हासिल करने के लिए जनवादी मोर्चा बनाना और जन-आन्दोलन बढ़ाना आवश्यक है। कम्युनिस्ट पार्टी ने यह काम फरवरी सन् ४८ में अपनी दूसरी कांग्रेस के वक्त किया। पार्टी की इस बुनियादी तौर पर सही नीति का अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर वर्ग के नेताओं ने स्वागत किया।

श्री रजनी पामदत्त ने अपनी पुस्तक "ब्रिटेन के साम्राज्य-सङ्कट" में फरवरी सन् ४८ के पहले की उलझनों का उल्लेख करते हुए लिखा—"हिन्दुस्तान जैसे देशों में राष्ट्रीय स्वाधीनता का आन्दोलन, साम्राज्यवाद के साथ बड़े पूंजीपतियों के क्रान्ति-विरोधी सहयोग की गद्दारी से, कुछ समय के लिये उलझन में पड़ गया था। वह अब औद्योगिक मज़दूर-वर्ग के अधिनायकत्व में जो कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में प्रकट होगा, अपनी शक्तियों को फिर बटोरते हुए, एक विशाल जनवादी साम्राज्य विरोधी मोर्चे के अन्दर जनता के विशद अङ्गों को एक करते हुए ही आगे बढ़ सकता है। यह आम नीति हिन्दुस्तान की कम्युनिस्ट पार्टी की हाल में होने वाली दूसरी पार्टी कांग्रेस के फैसलों में जाहिर हुई हैं।

सोवियत लेखक बलाबुशेविच ने कम्युनिस्ट पार्टी की दूसरी कांग्रेस के बारे में लिखा—

"कम्युनिस्ट पार्टी की दूसरी कांग्रेस जो १६४८ की फरवरी के आखीर

में और मार्च के शुरू में हुई थी, हिन्दुस्तान की कम्युनिस्ट पार्टी के जीवन में एक महत्वपूर्ण कदम और देश में एक बड़ी राजनीतिक घटना थी। कांग्रेस ने दिखाया कि कम्युनिस्ट पार्टी के असर में बड़ा इजाफा हो गया।

"कांग्रेस ने तय किया कि नयी मंजिल का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कर्तव्य हर तरह से जनता के जनवादी मोर्चे को दृढ़ करना है। इस मोर्चे को मज़दूरवर्ग के नेतृत्व में, मज़दूर वर्ग, किसान और शहरों के निम्न-पूंजीवादी वर्ग की मैत्री का रूप होना चाहिये।"

कम्युनिस्ट पार्टी के फैसले ने अमली तौर पर साबित कर दिया कि मज़दूर वर्ग ही स्वाधीनता और जनतन्त्र हासिल करने के लिए तमाम जनता का नेतृत्व कर सकता है।

मज़दूर वर्ग की पार्टी ने ही सबसे पहले माउन्टबाटन मार्का आज़ादी का पर्दाफ़ाश किया और संगठित होकर वास्तविक स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए जनता का आवाहन किया।

हिन्दुस्तान की कम्युनिस्ट पार्टी अपनी इस नीति के लिए सबसे पहले कांग्रेसी राज्य की कोपभाजन बनी। सैकड़ों कम्युनिस्टों ने और उनके असर में काम करने वाले किसानों, मज़दूरों और दूसरे साधारण-जनों ने जेल से लेकर मृत्यु तक—और मृत्यु से भी भयंकर यातनाएं सहीं।

कम्युनिस्ट पार्टी अपने चुनाव के घोषणा-पत्र में उचित गर्व के साथ अपने इस इतिहास को याद करती है। इस घोषणा-पत्र में कहा गया है—

"कम्युनिस्ट पार्टी को इस बात पर अभिमान है कि राष्ट्रीय कांग्रेस ने हिन्दुस्तान के लिये जो 'आज़ादी' हासिल की थी, उसकी असलियत सबसे पहले आम जनता के सामने जाहिर की, और इस बात पर कि उसने इस 'आज़ादी' के खिलाफ जनताके संघर्ष का नेतृत्व किया, जिसका नतीजा यह हुआ कि सरकार के हमलों का मुख्य केन्द्र कम्युनिस्ट पार्टी बनी।"

१६५१ में कम्युनिस्ट पार्टी ने अपने चुनाव के घोषणा-पत्र में देश की मौजूदा हालत का विस्तृत विवेचन करते हुये बतलाया है कि जनता अपने संयुक्त-मोर्चे और जन-आन्दोलन के जरिये किस तरह एक नये स्वाधीन और जनवादी भारत का निर्माण कर सकती है।

हिन्दुस्तान के प्रगतिशील लेखकों ने हिन्दुस्तान की कम्युनिस्ट पार्टी से यह सीखा है कि कांग्रेसी 'आज़ादी' झूठी है। इस तरह अमली तौर पर मज़दूर वर्ग ने सांस्कृतिक क्षेत्र में अपना नेतृत्व कायम किया। अगर मज़दूर वर्ग और उसकी पार्टी ने यह काम न किया होता तो प्रगतिशील लेखक कांग्रेसी आजादी की असलियत आम जनता के सामने जाहिर न कर सकते। सन् ४८-४९ में उन्होंने अपनी रचनाओं से इस 'आजादी' के बारे में जनता के भ्रमों को तोड़ने में मदद दी और उस 'आजादी' के खिलाफ चलने वाले जनता के संघर्षों को अपने साहित्य में चित्रित किया। इसकी वजह से उन्हें कांग्रेस के बर्बर दमन का लक्ष्य बनना पड़ा। हर भाषा के प्रगतिशील लेखकों ने जनता के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर इस दमन का सामना किया और इससे उनके साहित्य को बल मिला। बम्बई में अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक सम्मेलन पर पाबन्दी लगा दी गई लेकिन भिवंडी के विद्यार्थियों ने देखते-देखते सम्मेलन का सारा प्रबन्ध कर दिया और लेखकों को ऐसे स्नेह और आदर से रखा कि यह चीज उनमें से बहुतों के लिए एक नया प्रेरणादायक अनुभव बन गई।

अमृतराय ने एक पुस्तक लिखी "साहित्य में संयुक्त मोर्चा"। इसके अंदर उन्होंने "साम्राज्य-विरोधी सामंत-विरोधी संयुक्त मोर्चे का आधार" बतलाते हुए हमारे सामने कुल मिलाकर ४३ शर्तें रक्खी हैं लेकिन इनमें स्वाधीनता-प्राप्ति का उद्देश्य गायब है। इस उद्देश्य के बिना जो संयुक्त मोर्चा बनेगा, वह साम्राज्य-विरोधी क्यों कर होगा, यह बात साफ नहीं की गई। अगर संयुक्त मोर्चा साम्राज्यवादी प्रभुत्व खत्म करके वास्तविक स्वाधीनता प्राप्त करने में मदद नहीं देता तो उसका साम्राज्य-विरोधी नाम नकली ही समझा जायगा।

इसी पुस्तक के पृ० ११८ पर वह लिखते हैं—"मैं तो समझता हूँ कि जैसे मुझको यह समझने का हक है कि पन्द्रह अगस्त को देश की आज़ादी का सौदा किया गया, वैसे ही दूसरे आदमी को यह समझने का हक है कि मुल्क आज़ाद हुआ। गरज घूम फिर कर बात फिर वहाँ पहुँच गई। इन दोनों विचारधाराओं में एकता हो सकती है या नहीं? जरूर। उसका आकार क्या

होगा ? जिन्दगी का जीवित सत्य, जनता, जनता की सेवा।"

इस तरह राष्ट्रीय स्वाधीनता के उद्देश्य के प्रति प्रगतिशील साहित्यकारों का प्रोग्राम तटस्थ रह जाता है। अमृतराय के मुताबिक यह प्रोग्राम कहता है कि जिसे आज़ादी हासिल करना है, करे, जिसे हासिल न करना हो, न करे; संयुक्त मोर्चे के अन्दर और सब शर्तें होंगी, सिर्फ आजादी हासिल करने की शर्त न होगी। इसके बदले एकता की शर्त होगी—जिन्दगी का जीवित सत्य, जनता की सेवा।

मेरी समझ में जो प्रगतिशील लेखक अपने प्रोग्राम से राष्ट्रीय स्वाधीनता का उद्देश्य निकाल देता है, उसका जीवित सत्य काफी निर्जीव रह जाता है। वह जनता की सेवा करेगा लेकिन असंगत् रूप से, भटकते हुए, अक्सर पिछड़े हुए लोगों के भ्रमों को और पुष्ट करते हुए। प्रगतिशील साहित्य और दूसरे साम्राज्य-विरोधी साहित्य में अन्तर क्या है ? प्रगतिशील लेखक संघ की नीव पड़ने से पहले क्या साम्राज्य-विरोधी साहित्य रचा न जाता था ? क्या प्रेमचंद के उपन्यास प्रेमाश्रम, सेवासदन, कर्मभूमि वगैरह साम्राज्यविरोधी उपन्यास नहीं थे ? क्या निराला, पंत, प्रसाद की रचनाओं में साम्राज्य-विरोधी, सामन्त-विरोधी तत्व मौजूद नहीं थे ? तब प्रगतिशील लेखक-संघ की नींव डालने की ज़रूरत क्यों पड़ी ?

प्रगतिशील लेखक संघ की नींव डालना इस लिए जरूरी था कि संगतरूप से साम्राज्य विरोधी, सामन्त विरोधी साहित्य की रचना की जा सके। इसलिए जरूरी था कि हम अपने साहित्य को ऐसी विचारधाराओं के असर से बचायें जो साम्राज्यवाद और सामन्तवाद से समझौता करना सिखाती है। यही सबब है कि गोदान और मंगलसूत्र में—प्रेमचन्द की अन्तिम रचनाओं में उनका साम्राज्य विरोध, सामन्त विरोध दूसरी तरह का है, प्रेमाश्रम, सेवासदन और कर्मभूमि में दूसरी तरह का। प्रेमचंद की रचनाओं में यह परिवर्तन, इस महान् उपन्यासकार द्वारा गांधीवाद को यह तिलाञ्जलि साबित करती है कि प्रगतिशील लेखक संघ एक ऐतिहासिक आवश्यकता थी। इस ऐतिहासिक आवश्यकता को हिंदुस्तान के मजदूर वर्ग और उसकी पार्टी ने पूरा किया। अगर मजदूर वर्ग और उसकी पार्टी ने सांस्कृतिक क्षेत्र में यह नेतृत्व न किया होता तो हिंदुस्तान

का नया साहित्य या तो गांधीवाद का पिछलगुआ बना रहता, या वह पच्छिम के पतित पूंजीवादी साहित्य की नकल करता या वह सम्मेलन के प्राण श्री पुरुषोत्तमदास टंडन से अनुप्राणित होता।

प्रगतिशील लेखक संघ के अन्दर मजदूर वर्ग की यह भूमिका खत्म कर दीजिये, मार्क्सवादी विचारधारा के नेतृत्व की यह भूमिका खत्म कर दीजिये तो प्रगतिशील साहित्य पंगु होकर रह जायगा। उसके अन्दर साम्राज्यविरोधी, सामन्त विरोधी तत्त्व रहेंगे लेकिन वे साम्राज्यवाद और सामन्तवाद से समझौता करने वाले तत्वों से बुरी तरह जकड़ जायंगे। इससे हमारी जनता और संस्कृति को कितना नुकसान पहुँचेगा, इसकी कल्पना की जा सकती है।

प्रगतिशील लेखक संघ उन तमाम लोगों के साथ मिलकर काम करेगा जिनमें थोड़े भी साम्राज्य, विरोधी, सामन्त-विरोधी तत्त्व मौजूद हैं लेकिन अपने सङ्गठन को खत्म करके नहीं। उसके अपने सङ्गठन का लक्ष्य है—राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्ति। इस ध्येय को सुरक्षित रखते हुए ही प्रगतिशील लेखक संघ अपनी मिसाल से ज्यादा से ज्यादा लेखकों को संगत साम्राज्य विरोधी साहित्य की तरफ ला सकता है।

अमृतराय का कहना है—"कम्युनिस्ट-प्रगतिशील जनवादी लेखकों का मत है कि यह आजादी झूठी है।" (उप० पृ० ११४) उनकी समझ से सिर्फ कम्युनिस्ट लेखक ऐसे हैं जो यह समझते हैं कि यह आजादी झूठी है। यह समझ उतनी ही झूठी है जितनी कि कांग्रेसी आजादी झूठी है।

यह समझने वाले और कहने वाले कि कांग्रेसी आजादी झूठी है और सच्ची आज़ादी हासिल करना है, सिर्फ कम्युनिस्ट लेखक नहीं है, सिर्फ प्रगतिशील लेखक सङ्घ के अन्दर सङ्गठित लेखक नहीं हैं, बल्कि सैकड़ों और लेखक भी हैं। उनकी यह चेतना कि कांग्रेसी आज़ादी झूठी है, प्रगतिशील लेखक संघ के संगठन का आधार है। यह आजादी क्यों झूठी है, इस बारे में मतभेद हो सकता है और इस दिशा में पुराने घोषणा-पत्र की स्थापनाओं में संशोधन की जरूरत है लेकिन यह स्थापना कायम रहनी चाहिये। कि प्रगतिशील लेखक संघ का उद्देश्य वास्तविक स्वाधीनता प्राप्त करना है।

पुराना घोषणा-पत्र जिन लोगों ने पास किया था, उनमें कम्युनिस्ट

लेखकों के अलावा मुल्कराज आनन्द, राजेन्द्रसिंह बेदी, कृश्नचन्दर, रामानन्द सागर, इस्मत चुगताई वगैरह गैर कम्युनिस्ट लेखक भी थे। इसलिए यह कहना गलत है कि सिर्फ कम्युनिस्ट लेखकों ने आजादी के बारे में अपनी स्थापना प्रगतिशील लेखकों के घोषणा-पत्र में शामिल कर ली थी।

उस घोषणा-पत्र के दो साल बाद ऐसे गैर कम्युनिस्ट लेखकों की तादाद और भी बढ़ गई है जो कांग्रेसी आज़ादी को झूठा कहते हैं। इसलिए प्रगतिशील लेखकों के नये घोषणा-पत्र में जिसकी जरूरत है—यह स्थापना और भी विश्वास के साथ रखी जा सकती है कि कांग्रेसी आजादी झूठी है और हमें वास्तविक स्वाधीनता प्राप्त करना है।

शिवदानसिंह चौहान की राय है कि "अगर कोई कहे कि हम आजाद हो गये या कहे कि नहीं, अभी हम गुलाम हैं तो हमें बहसों में पड़ने से गरज नहीं है" (नयी चेतना, अङ्क ४, १९५१)। उनके मुताबिक "गुलामी शोषण-उत्पीड़न को न्यायपूर्ण करार देने वाले अमानवीय आर्थिक-सामाजिक सम्बन्धों का एक रौरव नरक है, जिसका वातावरण भी शोषक वर्गों की अनैतिकता और अ-संस्कृति से भाराक्रान्त होता है। गुलामी या आजादी मनुष्य जीवन की परस्पर विरोधी मूर्त वास्तविकतायें हैं जिनकी पीड़ा या पुलक प्रत्येक व्यक्ति अपनी रग-रग में अनुभव करता है। केवल अमूर्त विचारों और बहसों की चीजें नहीं है।" (उप०)

कुछ कुछ चौहान की तरह, लेकिन उनसे ज्यादा उलझे हुए वाक्यों में रांगेय राघव कहते हैं—"शान्ति के लिए ही संयुक्त मोर्चा चाहिये। आज की परिस्थिति में विश्व शान्ति ही प्रत्येक देश में क्रान्ति के लिए आवश्यक है। क्रान्ति समाज की व्यवस्था बदलने का नाम है, न कि रक्तपात या आतंकवाद का। न शान्ति का नारा अहिंसा का ढकोसला ही है। शान्ति ही संयुक्त मोर्चा का आधार होगा। बस आधार के साथ वर्ग-चेतना और जन-आन्दोलन को आगे बढ़ाने वाली प्रवृत्ति, चिन्तन और क्रिया इस आधार के साथ बंधी हुई है।" (हंस, मार्च ५१)

प्रगतिशील लेखकों के प्रोग्राम में राष्ट्रीय स्वाधीनता न रखने का मतलब है, बहैसियत एक संगठन के वे देश को आजाद करने के सवाल पर तटस्थ हैं।

प्रोग्राम में इस अहम मसले पर उनका चुप रहना साम्राज्यवादी हितों और उनके सहायकों के लिए लाभकारी हुये बिना नहीं रह सकता । यह गैर जानिबदारी प्रगतिशील साहित्य के विकास में हानिकर होगी ।

अमृतराय, शिवदानसिंह चौहान, और रांगेय राघव ने पिछले छः सात महीनों में जो कुछ साहित्य के बारे में लिखा है, उसका आधार एक स्पष्ट राजनीतिक लाइन है । यह लाइन है विसर्जनवाद की । सब से पहले यह लाइन प्रगतिशील लेखकों के कार्य-क्रम से राष्ट्रीय स्वाधीनता के उद्देश्य का ही विसर्जन करती है । इसलिए इन लेखकों के लम्बे-लम्बे थीसिसों में जागरूक पाठकों को सबसे पहले यही ध्यान से देखना चाहिये कि ये भारत में साम्राज्यवादी प्रभुत्व के अहम सवाल पर प्रगतिशील लेखकों से क्या करने को कहते हैं । यह आकस्मिक बात नहीं है कि अमृतराय, चौहान या रांगेय राघव कांग्रेस के हिंसक दमन के बारे में चुप रहते हैं । यह आकस्मिक बात नहीं है कि अपनी किताब ("साहित्य में संयुक्त मोर्चा") में जहाँ हिन्दुस्तान की अन्दरूनी हालत के बारे में अमृतराय ने लिखा है, वहाँ कांग्रेसी दमन के बारे में एक भी शब्द नहीं है । क्या उन्हें यह मालूम नहीं है कि देश के हर कोने में जहां भी जनता ने अपनी हालत सुधारने की कोशिश की है, उसे फौज और पुलिस के जरिये कुचला गया है ? क्या यह आकस्मिक बात है कि जिस कांग्रेसी अनाचार और दमन के खिलाफ देश के तमाम जनवादी पत्र लिखते रहे हैं, उसके खिलाफ "हंस" ने पिछले अक्टूबर से लेकर इस सितम्बर तक एक सम्पादकीय नोट नहीं लिखा ? क्या प्रेमचन्द की परम्परा निबाहने का यही तरीका है ?

इस लेख के शुरू में मैं कम्युनिस्ट पार्टी की दूसरी कांग्रेस की महत्वपूर्ण भूमिका का हवाला दे चुका हूँ । यह ध्यान देने की बात है अमृतराय और उनके साथी लेखक कम्युनिस्ट पार्टी की नीति की "आलोचना" करते हुए न इस पार्टी कांग्रेस का जिक्र करते हैं और न उसके बारे में कॉ० रजनी पामदत्त वगैरह की राय का हवाला देते हैं ।

अपनी पुस्तक "साहित्य में संयुक्त मोर्चा" वह इस वाक्य से शुरू करते हैं–"इधर काफी अर्से से कम्युनिस्ट राजनीतिक हलकों में पार्टी की उग्र वामपंथी, संकीर्णतावादी, ट्राट्स्कीवादी-टीटोवादी ग़लतियों के बारे में बहस चल रही है ।"

एक वाक्य के बाद इस बहस का नतीजा निकालते हुए वह कहते हैं—"यह बात अब दिन की तरह साफ हो गई है कि पार्टी की पिछली संकीर्णतावादी, ट्राट्स्कीवादी-टीटोवादी ग़लतियों ने पार्टी को और उससे सम्बन्धित जन-संगठनों को एकदम छिन्न भिन्न कर दिया है।"

इसकी मिसालें वह (पृ० ६८-६६ पर) "किसान आन्दोलन की हत्या" और "किसान-सभा की हत्या" का जिक्र करते हुए देते हैं। पहले मोटे-मोटे हर्फों में यह सिरनामा छपा है—"किसान क्रान्ति के सवाल पर मार्क्सवादी-लेनिनवादी रणनीति और कार्यनीति में संशोधन करने की चेष्टा और उसका प्रभाव किसान आन्दोलन की हत्या।"

अभी हाल में अखिल भारतीय किसान सभा की केन्द्रीय समिति की बैठक हुई थी। उसकी एक संक्षिप्त रिपोर्ट "क्रॉसरोड्स" (७ सितम्बर १६५१) में छपी है, जो इस तरह शुरू होती है, "आजादी के बाद के जमाने में और सभी जनसंगठनों की तरह पिछले साढ़े तीन साल में अखिल भारतीय किसान सभा भयानक दमन का शिकार रही। हजारों किसान कार्यकर्त्ता पकड़ लिए गये और उन्हें लम्बी सजायें दी गईं और सैकड़ों अभी भी जेल में पड़े हुए हैं। कुछ प्रान्तों में बहुत से किसान सभा के कार्यकर्त्ता गोली से मार डाले गये।"

तब हत्यारा कौन ठहरा ?

इन गोलीकाण्डों के बारे में खामोश रह कर कितना आसान है यह कहना—कम्युनिस्ट पार्टी ने किसान आन्दोलन की हत्या की।

अमृतराय का कहना है कि रामविलास शर्मा में "वह बुनियादी चीज, सच्ची ईमानदार आत्म आलोचना का माद्दा ही नहीं है जिसके बगैर सब कुछ मिट्टी हो जाता है।" (पृ० ३)

ईसाई धर्म के मुताबिक इन्सान जन्म से ही पापी होता है और जब तक ईसामसीह दया न करें तब तक पापों से बरी होकर वह मोक्ष नहीं पा सकता। कुछ-कुछ वही दशा रामविलास नामक आदमी की है जिसमें ईमानदार आत्म-आलोचना का माद्दा ही नहीं है। ऐसी ही राय रांगेय राघव की भी है जो कहते हैं—"हर राजनीतिज्ञ की एक ईमानदारी होती है। बोल्शेविक हैं ! क्या वे जनता में अपनी गलती स्वीकार करेंगे ? या वे सोचेंगे कि मैं ! आलोचक !

कैसे कह दूँ—मैं इतना अवसरवादी हूँ !" (नवयुग, ८ जुलाई ५१)

आखिर मैं कौनसी बात कहूँ जिससे इन लेखकों को मेरी ईमानदारी पर भरोसा आये ?

पहले तो मुझे यह मानना चाहिये कि मेरी समझ त्रात्स्कीवादी-टीटोवादी रही है और उसकी वजह से प्रगतिशील लेखक संघ करीब करीब खत्म हो गया।

अमृतराय कहते हैं—"खुद उनकी निगाह तले प्रगतिशील साहित्य आंदोलन का तार-तार अलग हुआ है और उसका तार-तार अलग-अलग करने में खुद उनके आलोचनात्मक लेखों का काफी हाथ है।" (पृ० ३)

अमृतराय इस बात से नावाकिफ नहीं है कि हिन्दुस्तान के साम्राज्यवादी बंटवारे के बाद अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक सङ्घ के मन्त्री कॉ० सज्जाद-जहीर पाकिस्तान चले गये थे। सन् ४८ के शुरू में अलीसरदार जाफरी "गिरफ्तार कर लिए गये थे और उस समय हमारे सङ्गठन का कोई मंत्री न रह गया था। उसकी कार्यकारिणी की कोई बैठक कई वर्षों से न हुई थी। अखिल भारतीय हिन्दी और उर्दू के सम्मेलन तो हुए थे लेकिन सन् ४३ के बाद से इनके अलावा अन्य भाषाओं से प्रगतिशील लेखकों का कोई अखिल भारतीय सम्मेलन न हुआ था। मई सन् ४६ में सरकारी दमन और पाबन्दियों का सामना करते हुये प्रगतिशील लेखकों ने देश के बँटवारे के बाद अखिल भारतीय पैमाने पर फिर से सङ्गठित होने की कोशिश की थी। इसके पहले अप्रैल सन् ४६ में, कई साल बाद उत्तर प्रदेश के हिन्दी-उर्दू लेखकों ने अपना मिला-जुला प्रान्तीय सम्मेलन किया था।

जुलाई सन् ५० में दिल्ली में एक प्रादेशिक सम्मेलन हुआ जिसमें खुद हंस-सम्पादक अमृतराय के अनुसार "सौ से ऊपर प्रतिनिधियों ने भाग लिया था।" (हंस, अक्टूबर, ५०)। नवम्बर सन् ५० के "हंस" में छपी हुई एक रिपोर्ट के अनुसार "आगरा प्रगतिशील लेखक सङ्घ ने रविवार ८ अक्टूबर १६५० को प्रेमचन्द पुण्यतिथि मनाने का निश्चय किया था।........प्रगतिशील लेखक सङ्घ के तत्वावधान में यह पहिला ही सार्वजनिक सांस्कृतिक आयोजन था। लेकिन जनता ने जिस प्रकार हमारी उत्साह वृद्धि की, उससे हमें प्रगतिशील साहित्यिक आंदोलन की लोकप्रियता का अंदाजा हुआ।"

ऐसी हालत में मेरे लिए यह कहना कि प्रगतिशील साहित्य आंदोलन का तार तार अलग अलग हुआ है और मेरी वजह हुआ है, वस्तु-स्थिति की उपेक्षा करना होगा। अमृतराय अगर इससे नतीजा निकालते हैं कि मुझमें इमानदार आत्म-आलोचना का माद्दा ही नहीं है तो वे निकालें, मैं उनकी इच्छानुसार ईमानदार बनने के लिये जरा भी उत्सुक नहीं हूँ।

अमृतराय के मुताबिक मेरी ईमानदारी तब साबित होगी जब मैं मानूँ कि "समाजवादी क्रांति हमारे तत्काल एजेण्डे पर थी। हम संकट के उभार से क्रांति के फार्मूला में गिरफ्तार थे, समाजवादी क्रांति हमारा दरवाजा खटखटा रही है, यह हमारी समझ या (नासमझी) थी" इत्यादि। (पृ० ३५)

अमृतराय जानते हैं कि श्री सुमित्रानन्दन पंत की आलोचना करते हुये मैंने लिखा था—"जिस औपनिवेशिक व्यवस्था को अंग्रेज दो सौ साल से कायम किए हुये थे, वह झटके खाकर जगह-जगह टूटने लगी है। उसमें पेवन्द लगाकर जनता को बहलाया नहीं जा सकता।" और भी—"और इसमें किसे सन्देह हो सकता है कि हमारा साहित्य इस सङ्घर्ष को चित्रित करने से साथ-साथ जनता की विजय के लिये और अंत में समाजवाद की स्थापना के लिये एक महान् प्रेरक शक्ति भी बनेगा।" इस तरह के वाक्य सामने आने पर अमृतराय पूछते हैं—"क्या रामविलास जी यह कहना चाहते हैं कि जब समूची कम्युनिस्ट पार्टी यह समझ रही थी कि मौजूदा दौर समाजवादी क्रांति का है, तब एक अकेले उनकी समझ ठीक थी?"

अगर समूची कम्युनिस्ट पार्टी यह समझ रही थी कि मौजूदा दौर समाजवादी क्रांति का है तो कम्युनिस्ट पार्टी आज सन् ५१ में अपने चुनाव के घोषणा पत्र में क्यों कहती है—"कम्युनिस्ट पार्टी को इस बात पर अभिमान है कि राष्ट्रीय कांग्रेस ने हिन्दुस्तान के लिए जो 'आजादी' हासिल की थी, उसकी असलियत आम जनता के सामने सबसे पहले ज़ाहिर की और इस बात पर कि उसने इस 'आज़ादी' के खिलाफ जनता के सङ्घर्ष का नेतृत्व किया, जिसका नतीजा यह हुआ कि सरकार के हमलों का मुख्य केन्द्र कम्युनिस्ट पार्टी बनी।'

कम्युनिस्ट पार्टी आम जनता की पार्टी है। वह दमन और अत्याचार के दिनों हमेशा जनता के साथ रही है। उसके वीर शहीदों की लम्बी सूची इस

बात का अकाट्य प्रमाण है। वह इस बात पर सही गर्व प्रकट करती है कि उसने कांग्रेसी 'आज़ादी' का पर्दाफाश किया और इस 'आजादी' के खिलाफ जनता के संघर्ष का नेतृत्व किया। विसर्जनवादी चश्मा लगाने पर हकीकत दूसरी ही नज़र आती है। और वह इस प्रकार—

'ऐतिहासिक रूप से कम्युनिस्ट पार्टी ही राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलनों के नये दौर में, जब अब तक के उसके नेताओं ने उसका साथ छोड़ दिया था, उसकी नेता थी। मगर वह अपना ऐतिहासिक कर्त्तव्य नहीं पूरा कर सकी, क्योंकि वह या तो जनता की दुम बनी, उसके पीछे-पीछे घिसटती रही या ऐसी मीलों आगे बढ़ गई कि जनता उसकी दुम तक देखने से कासिर रही! गरज़ कभी उसने जन-नेता की तरह अमल नहीं किया यानी जनता के साथ मगर दो कदम आगे।" (साहित्य में संयुक्त मोर्चा पृ० ३५)

ये वाक्य पढ़कर अमृतराय की जहनियत के धरातल का पता लगाना मुश्किल नहीं है। यह ज़हनियत तथ्यों को ग़लत ही नहीं पेश करती। उन्हें ग़लत पेश करने में रस भी लेती हैं। अमृतराय ने अपनी समझ से यह लिखकर "जनता उसकी दुम तक देखने से कासिर रही" अपनी शैली को रोचक बना लिया है लेकिन इस तरह की शैली और तथ्यों का यों ग़लत पेश करना उन लोगों की विशेषता है जो मार्क्सवाद को तिलाञ्जलि दे चुके हैं और आलोचना के नाम पर कम्युनिस्ट पार्टी पर कीचड़ उछाड़ कर जनता के दुश्मनों की मदद करते हैं।

पुरानी सफलताओं-असफलताओं को आँकने का एक ही तरीका हो सकता कि हम यह देखें कि किस हद तक हम इस काँग्रेसी "आजादी" का पर्दाफाश कर सके और किस हद उसके खिलाफ जनता के सङ्घर्षों का चित्रण कर सके। लेकिन अमृतराय सवाल को इस तरह नहीं उठाते बल्कि राष्ट्रीय स्वाधीनता के उद्देश्य को ही वह प्रगतिशील लेखकों के प्रोग्राम से निकाल देते हैं।

"आजादी" के सवाल पर किस तरह घोषणापत्र तैयार करना चाहिये था, उसकी मिसाल अमृतराय ने इस प्रकार दी है—

"जहाँ तक स्वयं प्रगतिशील लेखक सङ्घ का सम्बन्ध है, वह बहुत अच्छी तरह कुछ इस आशय की घोषणा कर सकता था, प्रगतिशील लेखक सङ्घ जनता के प्रति सच्चा एक साहित्यिक-सांस्कृतिक सङ्गठन है। जिस हद तक देश में होने

वाली किसी भी हलचल का जनता की जिन्दगी पर, उसके सुख दुःख पर, उसकी आशाओं आकांक्षाओं पर असर पड़ता है, उस हद तक सङ्घ की गहरी दिलचस्पी उस हलचल में होती है। इस दृष्टि से पन्द्रह अगस्त को होने वाले राजनीतिक परिवर्तनों का बड़ा महत्व है, हमारी जनता की अनेक आशायें आकांक्षायें उसके सङ्ग जुड़ी हुई है, अपने अनेक स्वप्नों को वह उसमें साकार होते देखना चाहती है। हम अभी इस बहस की पेचीदगी में नहीं पड़ना चाहते कि यह आज़ादी झूठी है या सच्ची। हम समझते हैं कि उसके झूठ सच के निर्णय के लिये भी सबसे अच्छी कसौटी यही है कि जनता की ज़िन्दगी पर उसके सुख दुःख पर उसका क्या और कैसा असर पड़ता है, उसके संग गुथे हुये जनता के खुशहाल, सुखी, सुसंस्कृत जिन्दगी के सपने कहाँ तक सच उतरते हैं, आदि आदि।"

अगर हिन्दुस्तान में मजदूर वर्ग और उसकी पार्टी न होती तो इस तरह की घोषणा की जा सकती थी। लेकिन मजदूर वर्ग और उसकी पार्टी ने इस "आजादी" के प्रति तटस्थ न रहकर उसका पर्दाफाश किया और उसके खिलाफ सङ्घर्ष करने के लिए जनता का आवाहन किया। इस "आजादी" के सवाल पर तटस्थ रहना जनता के प्रति विश्वासघात करना होता। अमृतराय चाहते हैं कि मई ४९ में, करीब दो साल तक काँग्रेसी दमन को देखने-सुनने के बाद हम कहें कि पन्द्रह अगस्त को होने वाले राजनीतिक परिवर्तनों का बड़ा महत्व है।

लेकिन यह समझना भूल होगी कि अमृतराय और उनके हमखयाल माउन्टबाटन योजना के सवाल पर आज सिर्फ तटस्थता की बातें कर रहे हैं। संस्कृति के अलावा हम और दूसरे क्षेत्रों में तटस्थता के माने समझना सीख रहे हैं। काँग्रेसी राज, काँग्रेसी नेताओं के दर्शन गांधीवाद का समर्थन करने वाले महा पण्डितों और महाकवियों का जब-जब पर्दाफाश किया जाता है तब-तब अमृतराय और उनके हमखयालों का पारा ऊपर चढ़ जाता है। इन लोगों ने सन् ५०-५१ में कांग्रेसी राज का समर्थन करने वाले, काँग्रेसी राज के दर्शन गांधीवाद का प्रचार करने वाले एक भी लेखक पर एक भी सतर नहीं लिखी। इसका सबब क्या है? क्या कांग्रेसी राज्य से मुक्ति पाना जनता के एजेंडे पर नहीं है?

क्या इसके लिये कांग्रेस राज और कांग्रेसी दर्शन के हिमायतियों और प्रचारकों का पर्दाफाश करना जरूरी नहीं है? अमृतराय, रांगेयराघव, शिवदानसिंह चौहान इनके खिलाफ नहीं लिखते बल्कि इनके साथ मिलकर वह रामविलास शर्मा के खिलाफ संयुक्त मोर्चा बनाते हैं।

जरा इनके आन्दोलन की शक्ल देखिये। जनवरी सन् ५१ के "हंस" में अमृतराय रामविलास के सङ्कीर्णतावाद पर टिप्पणी लिखते हैं। फरवरी के "हंस" में रामगोपालसिंह चौहान का लेख "साहित्य की नयी दिशा" छपता है जिसमें हमले का केन्द्र रामविलास है। मार्च के "हंस" में रांगेयराघव से रामगोपलसिंह चौहान की "इन्टरव्यू" छपती है जिसका मुख्य विषय रामविलास की "आलोचना" है। मार्च की "नयी चेतना" में शिवदानसिंह चौहान कृपा करते हैं। "नवयुग" में रांगेयराघव धारावाहिक रूप से लेखमाला निकालते हैं। जून में अमृतराय "साहित्य में संयुक्त मोर्चा" नाम की पुस्तक लिखते हैं जिसमें "रामविलास शर्मा का नाम बारबार आया है। इसका कारण यह नहीं है कि मुझे व्यक्ति रामविलास शर्मा से कोई अदावत है। इसका कारण सिर्फ यह है कि रामविलास शर्मा में वामपन्थी सङ्कीर्णतावादी प्रवृत्ति सबसे अधिक स्पष्ट, प्रबल और मुखर है और उन्होंने इस गलत समझ के वश सबसे अधिक आलोचनात्मक कार्य किया है।" (पृ०१०)

मानना पड़ेगा कि जनवरी से जून तक इन लेखकों ने रामविलास शर्मा को केन्द्र बनाकर कम आलोचनात्मक कार्य नहीं किया। जब तक रामविलास का असर काफ़ी गहरा न हो तब तक उसकी जड़ खोदने के लिए इतने महारथियों को इतने भगीरथ परिश्रम की जरूरत न पड़ती। मई के "हंस" में प्रकाशित मेरे एक लेख के असर से पाठकों को बचाते हुए अपनी टिप्पणी में अमृतराय अनुरोध करते हैं—"पाठकों से और अपने सभी नये और पुराने लेखक बन्धुओं से हमारा अनुरोध है कि आप आगे आकर इस बहस में हिस्सा लीजिये और प्रगतिशील साहित्य आन्दोलन को सही दिशा में ले चलने के लिए उद्योग कीजिये। सबके सामूहिक उद्योग से ही अब हमारी गाड़ी इस संकीर्णतावादी दलदल में से निकल सकेगी।"

क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि छः महीने तक रामविलास के

खिलाफ धुआंधार लिखने के लिए वक्त और कागज होते हुए कांग्रेसी दमन और उसके समर्थक लेखकों के लिए अमृतराय को एक सतर लिखने के लिए भी वक्त और कागज मयस्सर न हुआ ? या रामविलास के खिलाफ संघर्ष करने का मतलब ही यह है कि कांग्रेस विरोधी सङ्घर्ष का सवाल पीछे पड़ जाय ?

अमृतराय वगैरह का कहना है कि रामविलास ने महापण्डित राहुल और महाकवि पन्त के खिलाफ पहले भी लिखा और अब लिखता जाता है, इससे बड़ी बेईमानी, त्रात्स्कीवाद वगैरह और क्या हो सकता है ?

महापण्डित राहुल सन् ४७ में कांग्रेस के घोर प्रतिक्रियावादी टण्डन-गुट की कृपा से सम्मेलन के सभापति बनाये गये। जो हिन्दू-सभाई प्रचार टण्डन-गुट न कर सकता था, उसे महापण्डित राहुल ने किया। सन् ५० में प्रकाशित "आज की राजनीति" में वह खुल्लमखुल्ला टण्डनजी को अपना नेता घोषित करते हैं—बेशक, सिर्फ हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के मामले में। इसी पुस्तक में महापण्डित राहुल राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और हिन्दू सभा के कान काटते हुए—किसी पात्र के द्वारा नहीं स्वयं अपने मुखारविन्द से—कहते हैं—"इस्लाम ने जो भी कहा हो, किन्तु मुसल्मानों ने अपने आपको देश की धारा का अंग बनने से सदा इन्कार किया।"

सम्मेलन के मंच से और उसके बाहर महापण्डित राहुल ने टण्डन-गुट की सांस्कृतिक नीति को पूरी तरह निबाहा। इससे देश की प्रगतिशील शक्तियों को भारी धक्का नहीं लगा, यह वही कह सकता है जो समझता है कि संस्कृति का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है। वही महापण्डित राहुल जल्दी से हाथ पैर धोकर फिर संयुक्तमोर्चे के अलम्बदार हैं।

क्या सबब है कि संयुक्त-मोर्चे की इतनी लम्बी पुस्तक में एक जगह भी साहित्य सम्मेलन के नेताओं की, उसके प्राण राजर्षि टण्डन की, उनके सांस्कृतिक अनुयायी राहुल जी की आलोचना नहीं की गई ? इसलिए कि इनकी आलोचना करें तो फिर संयुक्तमोर्चा किसके साथ बने ?

श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने "स्वर्ण-किरण" और "स्वर्ण-धूलि" में सामन्तशाही का खुला समर्थन किया है, गांधीवाद और धार्मिक अन्ध विश्वासों को यथाशक्ति उभारा है। इनका जैसा भरा पूरा विस्तृत खण्डन आवश्यक है, वह

मैंने नहीं किया। लेकिन अमृतराय का कहना है कि पन्त पर लिखते हुए अरविन्द के दर्शन का खण्डन करना चाहिए। गोया गांधीवाद का खण्डन करना गुनाह है।

अमृतराय के संयुक्त-मोर्चे से राष्ट्रीय स्वाधीनता का उद्देश्य गायब है, इसीलिए विचारधारा का संघर्ष भी उनके अमल से विलकुल गायब है। विसर्जनवादी राजनीतिक लाइन का यही नतीजा निकल सकता है।

अमृतराय के मुताबिक कम्युनिस्ट पार्टी अपना ऐतिहासिक कर्तव्य नहीं पूरा कर सकी, कभी उसने जन नेता की तरह अमल नहीं किया।

अगर यह बात सही है तो प्रगतिशील लेखक सङ्घ की नींव डालने क्या आस्मान से फरिश्ते आये थे?

सन् ४५ में कम्युनिस्ट पार्टी के उस समय क मन्त्री पूरनचंद जोशी ने सही लिखा था—"हमारी पार्टी ने प्रगतिशील लेखक संघ और जननाट्य संघ के आन्दोलनों को प्रेरित किया है और सक्रियरूप से उनके संगठन में मदद की है"। (पीपुल्सवार ४ नवम्बर '४५)

मज़दूरवर्ग और उसकी पार्टी के नेतृत्व के बिना प्रगतिशील लेखक संघ का संगठन और विकास असंभव था। मज़दूरवर्ग और उसकी पार्टी के बिना सन् ४८ में प्रगतिशील लेखकों के सामने कांग्रेसी आजादी का पर्दाफाश करके उन्हें स्वाधीनता आंदोलन की नई मंजिल में जनता के साथ बढ़ाने का काम भी असंभव होता। इसलिए अमल से मजदूरवर्ग और उसकी पार्टी सांस्कृतिक क्षेत्र में अपने नेतृत्व का सबूत दे चुके हैं। जो लोग परेशान होकर कहते हैं कि कम्युनिस्ट पार्टी ने यह नहीं किया, वह नहीं किया, वे अप्रत्यक्षरूप से खुद इस बात की मांग करते हैं कि सांस्कृतिक क्षेत्र में पार्टी उनका और दृढ़ता से नेतृत्व करे।

इसलिये प्रगतिशील साहित्य की यह व्याख्या करना उचित होगा कि मजदूरवर्ग के नेतृत्व में रचा जाने वाला साम्राज्यविरोधी सामन्तविरोधी साहित्य ही प्रगतिशील साहित्य है।

मजदूर वर्ग के नेतृत्व के बारे में अमृतराय लिखते हैं—"हमें यह न भूलना चाहिये कि चीन की और हमारी परिस्थिति में जो अन्तर है, उनमें से एक यह भी है कि चीन में मजदूर वर्ग ने माओ की अजेय चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के

नेतृत्व में अपने आपको राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन की प्रमुख शक्ति बना लिया था, हिन्दुस्तान में अभी मजदूर वर्ग को यह काम करना है, राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन की प्रमुख शक्ति बनना है। उसके लिए उसे सबसे पहले खुद अपने भीतर की फूट को दूर करना है और क्रान्तिकारी नेतृत्व में मजदूर एकता कायम करना है। उसके बाद ही कहीं वह राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन की प्रमुख शक्ति बन सकेगा, और राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन की प्रमुख शक्ति बनने के बाद ही लोग उसे सांस्कृतिक क्षेत्र के नेता के रूप में स्वीकार कर सकते हैं, उसके पहले नहीं।"

वही मसल है कि कब बाबा मरेंगे, कब बैल बिकेंगे। अमृतराय की शर्तें जब तक पूरी न हों तब तक प्रगतिशील साहित्य में मजदूर वर्ग के नेतृत्व की बात करना बेसब्री होगा।

अमृतराय इस बात से नावाकिफ नहीं हैं कि चीन का नया सांस्कृतिक आन्दोलन सन् १६१६ से आरम्भ होता है और तब की और अब की चीनी कम्युनिस्ट पार्टी में जमीन आस्मान का फर्क है। कुओ-मो-जो के अनुसार "चौथी मई आंदोलन के बाद की नयी संस्कृति पिछड़ी पड़ चुकी पुराने ढंग की जनवादी संस्कृति नहीं है बल्कि वह मजदूर वर्ग के पथ प्रदर्शन पर रची हुई जनता की साम्राज्य विरोधी और सामन्तविरोधी नयी जनवादी संस्कृति है। इसी तरह चौथी मई आंदोलन के बाद का नया साहित्य अब पिछड़ा पड़ चुका पुराने ढंग का जनवादी साहित्य नहीं है बल्कि मज़दूरवर्ग के पथप्रदर्शन पर रचा हुआ जनता का साम्राज्य-विरोधी और सामन्तविरोधी नया जनवादी साहित्य है।"

अमृतराय के लिए नये जनवादी साहित्य और पुराने जनवादी साहित्य में कोई अन्तर नहीं है। इसलिए उनके लिए मजदूर वर्ग के नेतृत्व में रचे जाने वाले प्रगतिशील साहित्य और पिछड़े पड़ चुके पुराने ढंग के साम्राज्यविरोधी सामन्तविरोधी साहित्य में कोई अन्तर नहीं है।

विसर्जनवाद साहित्य और राजनीति में एक मध्यवर्गी विचारधारा है। इसका सारतत्व है—संघर्ष का विसर्जन। यह विसर्जन साम्राज्यवाद, सामन्तवाद के खिलाफ जनसंघर्षों का विसर्जन ही नहीं, यह उनकी समर्थक विचारधाराओं के खिलाफ संघर्ष का भी विसर्जन है। इसका सबसे स्पष्ट और पुराना रूप

शिवदानसिंह चौहान में मिलता है जिन्होंने मार्च की "नयी चेतना" में अमरीकी जंगबाजों के दलाल अज्ञेय का अभिनन्दन किया है। "न पहले कभी और न आज ही मैं मानने को तैयार हूँ कि अज्ञेय एक जनविरोधी लेखक हैं" इत्यादि। अमृतराय यह काम ज्यादा सफाई से करते हैं। "प्रेमचन्द की परंपरा" नाम के लेख में मैंने उन लेखकों की आलोचना की थी जो चीन, मलाया, वियतनाम आदि में साम्राज्यवादी हस्तक्षेप का समर्थन कर रहे थे, यूरोप में मार्शलयोजना को लागू करने के समर्थक थे, अमृतराय इतना ही कहना पसन्द करते हैं कि रामविलास कम्युनिस्ट पार्टी से या अपने से मतभेद रखनेवालों को पूंजी का गुलाम कहता है, वह यह नहीं बतलाते कि जिनको मैंने पूंजी का गुलाम कहा है वे एशिया में ऐंग्लो अमरीकी साम्राज्यवाद का खुला समर्थन कर रहे थे !

विसर्जनवाद अन्तर्राष्ट्रीयता-विरोधी विचारधारा है। इस प्रवृत्ति के शिकार होने वाले लोग ठोस तरीके पर हिन्दुस्तान में साम्राज्यवादी प्रभुत्व और युद्ध-वादी योजनाओं का पर्दाफाश नहीं करते। साल भर से हंस में अमृतराय ने कहीं भी यह दिखलाने की कोशिश नहीं कि साम्राज्यवादी युद्ध योजनाओं में हिन्दुस्तान को कौन सी जगह दी गई है। इस अन्तर्राष्ट्रीयता-विरोध का दूसरा पहलू यह है कि जो लोग सोवियत संघ और नये चीन के खिलाफ लिख रहे हों उनके बारे में चुप्पी साध लो। यही सबब है कि हिन्दुस्तान में होने वाले सोवियत-विरोधी प्रचार के बारे हंस के सम्पादकीय नोट खामोश रहते हैं और साल भर में एक बार भी अपने पाठकों को यह बतलाने की कोशिश नहीं की कि सोवियत संघ और नये चीन ने विश्व शान्ति रक्षा के लिए और खास तौर से एशिया में शांति की रक्षा के लिए कौन से कदम उठाये हैं।

विसर्जनवाद एक सिद्धान्तहीन साहित्यिक और राजनीतिक प्रवृत्ति है जो प्रगतिशील साहित्य में एक स्पष्ट गुटबन्दी का रूप ले रही है। इसकी सिद्धान्त-हीनता इस बात से जाहिर है कि जनता के सामने कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास पेश करते हुए यह तथ्यों को बुरी तरह तोड़ती मरोड़ती हैं। कम्युनिस्ट पार्टी का फरवरी ४८ का राजनीतिक प्रस्ताव और जून ४९ का कार्यनीति-सम्बन्धी बयान उसके लिए एक ही चीज है। विसर्जनवादी लेखक जनता को यह नहीं बतलाते

कि फरवरी सन् ४८ का राजनीतिक प्रस्ताव बुनियादी तौर से सही था और जून ४६ का कार्यनीति सम्बन्धं बयान बुनियादी तौर से गलत था। वे जनता को यह नहीं बतलाते कि फरवरी सन् ४८ के प्रस्ताव की समझ के मुताबिक कम्युनिस्ट लेखकों की रचनाएं बुनियादी तौर पर सही हैं। वे जनता को यह नहीं बतलाते कि जून ४६ का बयान छपने के बाद कम्युनिस्ट लेखकों की रचनाएं नहीं के बराबर छपी हैं। "हंस" और "नया साहित्य" सरकारी दमन की वजह से बन्द हो गये थे। वे जनता को यह नहीं बतलाते कि रामविलास के वे तमाम लेख जिन पर अमृतराय ने अपनी किताब में आपत्ति की है, जून ४६ के पहले लिखे हुए हैं और जून के बाद "लास्टिंग पास" का २७ जनवरी ५० वाला लेख आने तक रामविलास का सिर्फ एक लेख छपा है। वे जनता को यह नहीं बतलाते कि भिवंडी का अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक सम्मेलन मई सन् ४६ में हुआ था और यह मान भी लें कि इसके घोषणा पत्र से प्रगतिशील लेखक संघ टूट गया तो भी यह अवधि पूरे साल भर की भी नहीं ठहरती यानी मई ४६ से फरवरी ५० तक। इसलिये तीन साल के सत्यानाश की गुहार बेमानी हो जाती है और यह सत्यानाश सच भी हो तो उसके लिये भिवंडी के घोषणा पत्र को जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता।

विसर्जनवाद की सिद्धान्तहीनता नये नये 'सिद्धांत' गढ़ने में साबित होती है जिनसे वह अपने अवसरवाद को सही साबित करने की कोशिश करता है। मसलन अमृतराय का यह सिद्धान्त कि मध्यवर्ग समाजवादी क्रांति के वक्त ढुलमुल रहता है, उसके पहले उसके ढुलमुलपन की आलोचना करना संकीर्णतावाद है। वह लिखते हैं "पहली बात तो यह कि रामविलास जी की निगाह इस समय लेखक की मध्यवर्गी जहनियत पर गई, इसका मतलब है कि उनकी दृष्टि वामपंथी संकीर्णतावादी है। रणनीति और कार्यनीति पर विचार करते समय हम देख आये हैं कि समाजवादी क्रांति के दौर में मध्यवर्ग ढुलमुल होता है और इसलिए उसके ढुलमुलपन को खत्म करने की जरूरत होती है।" (पृष्ठ ६२-६३)

अगर समाजवादी क्रांति के दौरान में ही मध्यवर्गी जहनियत दूर करने की जरूरत पड़ती तो माओ जे दुंग येनान में मध्यवर्गी जहनियत के कला-

कारों के बारे में यह न कहते—"ये साथी बड़े आराम से निम्न मध्यवर्ग का समर्थन करते हैं या इसे और सुन्दरता से कहा जाय तो उनकी महान् आत्मा निम्न मध्यवर्ग के ही राज्य में निवास करती है।" [हंस, अक्टूबर ५०]

अमृतराय मात्र्यो जे दु ग के उठाये हुए सवाल का आज की परिस्थिति के लिए कोई महत्व नहीं समझते कि "हमारे लेखकों-कलाकारों को अपनी जड़ों की मिट्टी बदलनी होगी।"

विसर्जनवाद की सिद्धान्तहीनता इस बात में जाहिर होती है कि वह अपने विरोधियों पर झूठे और बेबुनियाद आरोप लगाता है। अमृतराय ने अपनी किताब में जितने झूठे आरोप लगाये हैं, उनमें सबसे घृणित आरोप नौकरशाही बर्ताव के बारे में है। अमृतराय के मुताबिक "पार्टी के भीतर और प्रगतिशील लेखक संघ के भीतर जनवाद का नाश" हो गया (पृ० १०४)। "लोग डरे सहमे मुंह पर ताला डाले घूमते थे कि कहीं धोखे से ऐसी कोई बात न निकल जाय कि मैं कायर या सुधारवादी या क्रांति का दुश्मन न करार दिया जाऊं।" (पृ० १०३) इसमें रामविलास की भूमिका इस प्रकार है। अमृतराय के मुताबिक यह मांग उठाई गई कि "सब कम्युनिस्ट लेखक जो कुछ भी लिखें उसकी एक कटिंग श्री रामविलास शर्मा के पास भेजें जिसका और कोई मकसद समझ में नहीं आता सिवाय इसके कि रामविलास जी को यह डर था कि हम सभी सुधारवाद के रंग में बुरी तरह डूबे हुये हैं इसलिए हम जो कुछ लिखते हैं उस पर कड़ी निगाह रखना जरूरी है। मैं नहीं जानता कि और भी कहीं ऐसा होता है या नहीं, लेकिन इतना जरूर है कि नेतृत्व के काम को अंजाम देने के लिये ऐसा करना जरूरी नहीं है। यकीनी तौर पर यह काम करने का नौकरशाही ढंग था और उसका नतीजा भी वैसा ही बुरा हुआ—लेखकों ने सहानुभूति शून्य आलोचना और सुधारवाद के जुर्म में अनुशासन की कार्रवाई के डर से लिखना ही बन्द कर दिया।" (पृ० १०५)

अमृतराय को चाहिए कि वह उन तमाम हुक्मनामों को छाप दें जो मैंने उन्हें भेजे थे। अगर उन्होंने यह आरोप जरा भी गंभीरता से लगाया हो तो उन्हें हंस के बारे में भेजे हुए मेरे खत छाप देने में जरा भी आनाकानी न करनी चाहिये।

रामविलास ने "हंस" और अमृतराय पर अनुशासन का डण्डा चलाया था या वह खुद रामविलास और पार्टी का सहयोग प्राप्त करने के लिये उत्सुक थे, इसकी एक-दो मिसालें दे देना काफी होगा। सवाल था "हंस" के लेखकों को पारिश्रमिक देने का। अमृतराय चाहते थे कि यह सवाल सांस्कृतिक मोर्चे पर काम करने वाले पार्टी साथियों की मदद से हल किया जाय। ११ फरवरी ४६ के पत्र में वह लिखते हैं :—"मैं चाहता हूँ हंस की पूरी आर्थिक परिस्थिति फ्रैक्शन के साथियों के सामने रखूं और उनकी मदद से लेखकों को पारिश्रमिक देने का आम मसला तै करूँ क्योंकि बावजूद इस बात के कि हंस घाटे पर चलता है, बिना पारिश्रमिक दिये लेख स्वीकार करना मेरी प्रकृति के बहुत अनुकूल नहीं है।" (मूल पत्र अंग्रेजी में है)।

अगर रामविलास ने नौकरशाहियत से लेखकों को डरा धमका दिया था तो "हंस" का मामला पार्टी साथियों के सामने रखने की प्रेरणा अमृतराय को कहाँ से मिली ? १६ मई' ४६ को "हंस" पर बैन के सिलसिले में अमृतराय ने मुझे लिखा था—"बैन के खिलाफ आन्दोलन हम लोगों ने यहाँ पर छेड़ दिया है। उसे बाकायदा संगठित रूप में चलाने का निश्चय किया है। हम लोग जवाब भी तैयार कर रहे हैं जो जल्दी ही तुम्हारे पास पहुँचेगा। इसी लड़ाई को अखिल भारतीय पैमाने पर चलाने के लिये उसे अखिल भारतीय संगठनात्मक शक्ल देनी होगी।" इससे यह साफ़ ज़ाहिर होता है कि अमृतराय को रामविलास के पास सहयोग के खत लिखने पड़ते थे, न कि रामविलास ने अपना सहयोग ज़बर्दस्ती अमृतराय पर लादा था। १४ सितम्बर ५० तक अमृतराय ने उन तमाम बातों का आविष्कार न किया था जो नौकरशाहियत के सवाल पर उन्होंने अपनी किताब में लिखी है। इस तारीख को उन्होंने मुझे लिखा था—"१० तारीख का तुम्हारा खत अभी मिला। दरअसल इस बात का बड़ा अफ़सोस है कि हंस के इस अङ्क में तुम्हारी कलम से कोई चीज नहीं जा रही। यह अङ्क अगले हफ्ते निकल जायगा और मुझे विश्वास है कि तुम उसे पसन्द करोगे। लेकिन कुछ लेख अनुवाद कर के देने पड़े हैं क्योंकि मौलिक लेख इतने कम थे। सम्पादकीय नोटों के बारे में सुझावों के लिये धन्यवाद।" (मूल अंग्रेज़ी में)। इस तरह के धन्यवाद अमृतराय के खतों में

बिखरे पड़े हैं और जब उनको मेरे सुझाव न मिलते थे, तो वह याद भी दिलाते थे कि अपनी राय भेजो। यह हकीकत १७ नवम्बर सन् ५० तक की है जिस दिन उन्होंने लिखा था—"तुम्हें अक्टूबर और नवम्बर के अंक मिल चुके हैं। मेहरबानी करके उन पर अपनी राय और सुझाव भेज दो। मैं इन तमाम दिनों तुम्हारे खत का इन्तजार कर रहा था।"

यही अमृतराय "साहित्य में संयुक्त मोर्चा" में पार्टी और प्रगतिशील लेखक संघ में जनवाद के नाश की शिकायत करते हैं और परिस्थिति का रोमांचकारी वर्णन करते हुए लिखते हैं कि लोग डरे सहमे से मुँह पर ताला जड़े घूमते थे कि कहीं मुँह से ऐसी बात न निकल जाय।

एकता सिद्धान्तों की बुनियाद पर हो सकती है। विसर्जनवाद एकता के तमाम सिद्धान्तों को तोड़ता है—साम्राज्यविरोधी साहित्य के सिद्धान्त को, सामन्तविरोधी साहित्य के सिद्धांत को, मज़दूर वर्ग की भूमिका के सिद्धांत को। इसीलिये एकता और संयुक्त मोर्चे के बारे में ६ महीने तक लगातार शोर मचाने के बाद अमृतराय और उनके हमखयाल एकता से और भी दूर चले गये हैं।

प्रगतिशील लेखक इस प्रवृति के खिलाफ संघर्ष करने के साथ-साथ ठोस तरीके से भारत में साम्राज्यवादी प्रभुत्व और युद्ध योजना का पर्दाफाश करेंगे। इस तरह वे जनता के लेखक की हैसियत से जनता के लिये और जनता के बारे में साहित्य रचेंगे। जुलाई ५० के प्रगतिशील लेखक-सम्मेलन के अवसर पर सोवियत संघ के लेखकों ने अपने संदेश में ये स्मरणीय शब्द कहे थे जो हमारा पथप्रदर्शन करते हैं, "वे लेखक आदर के पात्र हैं जो विदेशियों के टुकड़ों पर नहीं दौड़ते, जो दमन से नहीं डरते और जो एक सच्चे लेखक के समान जनता की सेवा करने के अपने व्रत को निभाते हैं और उसके साथ कंधे से कंधा मिलाकर बेहतर जिन्दगी की खातिर अपने देश की आजादी के लिये लड़ते हैं।" (हंस, अक्टूबर ५० में उद्धृत)

इससे जाहिर है कि प्रगतिशील साहित्य आजादी के लिये संघर्ष से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। प्रगतिशील साहित्य के कार्यक्रम से राष्ट्रीय स्वाधीनता के उद्देश्य को निकाल देना सही नहीं है।

× × × ×

× × × ×

अप्रैल १९३७ के हंस में स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद ने लिखा था, "हिन्दी के वर्तमान युग की दो प्रधान प्रवृत्तियां हैं। इन्हें यथार्थवाद और छायावाद कहते हैं।"

सन् '३७ तक छायावाद में ह्रास के लक्षण बहुत स्पष्ट हो चुके थे। प्रमुख छायावादी कवि प्रसाद और निराला तितली, देवी, चतुरी चमार आदि यथार्थवाद की अनुपम रचनाएं दे चुके थे। इन रचनाओं से मालूम होता है कि यथार्थवाद के अन्दर जो शक्तिशाली तत्व थे, उन्हें अपने में समोकर यथार्थवाद की धारा आगे बढ़ रही थी।

यथार्थवाद हिन्दी साहित्य के लिए कोई अनोखी वस्तु नहीं थी। वास्तव में वह जातीय साहित्य के विकास की स्वाभाविक अगली मंजिल था। प्रसाद जी ने ही इसका संबन्ध भारतेन्दु युग के साहित्य से जोड़ा था। उन्होंने लिखा था, "श्री हरिश्चन्द ने राष्ट्रीय वेदना के साथ ही जीवन के यथार्थ रूप का भी चित्रण आरम्भ किया था।"

यथार्थवाद की विशेषताओं के बारे में प्रसाद जी ने लिखा है, "यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है 'लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात'। इसमें स्वभावतः दुख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है। लघुता से मेरा तात्पर्य है साहित्य के माने हुए सिद्धान्तों के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण से अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुख और अभावों का वास्तविक उल्लेख।"

सामंती संस्कृति में किस तरह उच्च वर्गों की ही प्रतिष्ठा थी और किस तरह इतिहास ने उनकी प्रतिष्ठा को उतार दिया, इसका उल्लेख करते हुए प्रसाद जी ने लिखा है, "किन्तु जन साधारण और उनकी लघुता के वास्तविक होने का एक रहस्य है। भारतीय नरेशों की उपस्थिति भारत के साम्राज्य को बचा नहीं सकी। फलतः उनकी वास्तविक सत्ता में अविश्वास होना सकारण था। धार्मिक प्रवंचनाओं ने पतन में और विवेक दम्भपूर्ण आडम्बरों में कोई रुकावट नहीं डाली। तब राज्यसत्ता कृत्रिम और धार्मिक महत्व व्यर्थ हो गया था। और साधारण मनुष्य जिसे पहले लोग अकिंचन समझते थे वही क्षुद्रता में

महान दिखलाईपड़ने लग गया। उस व्यापक दुःख संवलित मानवता को स्पर्श करने वाला साहित्य यथार्थवादी बन जाता है। इस यथार्थवादिता में अभाव, पतन, और वेदना के अंश प्रचुरता से होते हैं।"

कबीर से लेकर प्रसाद तक हिन्दी साहित्य में वेदना की कमी नहीं रही। यह वेदना मूलतः यथार्थ जीवन से ही उत्पन्न हुई है। इसके साथ ही आनन्द की धारा भी हिन्दी साहित्य में प्रवाहित रही है। प्रसाद जी के निबन्धों में उसका विस्तृत उल्लेख मिलता है। यह आनन्द की धारा इस बात का प्रमाण है कि भारतीय जनता वेदनामय यथार्थ के सामने सर झुका कर नहीं रहती। उसके हृदय में आनन्द की चाह हमेशा बनी रही है और उसके लिए उसने संघर्ष भी किया है।

भारत में अंग्रेजी राज्य स्थापित होने के बाद यह संघर्ष और तीखा हुआ। वेदना का स्रोत पुरानी, जर्जर सामन्ती समाज व्यवस्था ही नहीं थीं बल्कि सबसे अधिक विदेशी स्वामियों की गुलामी थी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने यथार्थ के इस नए तत्व की ओर लोगों का ध्यान खींचा। अपने निबन्धों और कविताओं में उन्होंने अंग्रेजी राज्य में रहने वाले हिन्दुस्तानियों की दशा का मार्मिक वर्णन किया। राधाचरण गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त आदि ने उस परम्परा को आगे बढ़ाया। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में अंग्रेजी राज्य और भारतीय रूढ़िवाद की आलोचना ही नहीं की, बल्कि यथार्थ जीवन को बदलने के लिए भारतीय जनता को संघर्ष करते हुए भी दिखलाया। सेवासदन में ही उन्होंने एक ऐसी नारी का चित्रण किया था जो प्रचलित रूढ़ियों से संतुष्ट नहीं हैं और उनके विरुद्ध विद्रोह करती है। प्रेमाश्रम के किसान अपने सम्मान और अधिकारों के लिए जान की बाजी लगा देते हैं। फिर भी इन उपन्यासों में सेवासदन और प्रेमाश्रम बनाकर समस्याओं के काल्पनिक समाधान पेश किए गए हैं। निर्मला और उसके बाद के उपन्यासों में प्रेमचन्द ने यह समाधान शैली छोड़ दी थी। रंगभूमि और कर्मभूमि के किसान बिना समझौता किए हुए संघर्ष करते रहते हैं। निराला और प्रसाद ने जिस यथार्थवाद को विकसित किया, वह इसी तरह का समझौता न करने वाला यथार्थवाद था।

इस यथार्थवाद को अंग्रेज़ साम्राज्यवादियों के हृदय-परिवर्तन में विश्वास न था। उसे कांग्रेसी राम राज्य के सपनों पर भी भरोसा नहीं था। वह पुरोहितों और सम्प्रदायवादियों के सामने सिर झुकाने वाला नहीं था। सन् ३० से ३६ के बीच में प्रेमचन्द, प्रसाद, और निराला ने जो कथा-साहित्य रचा, वह समूचे हिन्दी साहित्य के विकास में एक नया क्रान्तिकारी कदम था।

जनवरी सन् ,३७ के हंस में प्रगतिशील लेखक संघ के घोषणापत्र का स्वागत करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा था, "हम इस संस्था का हृदय से स्वागत करते हैं और आशा करते हैं कि वह चिरंजीवी हो। हमें वास्तव में ऐसे ही साहित्य की जरूरत है और हमने यही आदर्श अपने सामने रखा है। हंस भी इन्हीं उद्देश्यों के लिए जारी किया गया है।"

प्रगतिशील लेखक संघ के जिस घोषणापत्र का प्रेमचन्द ने स्वागत किया था और हंस में उद्धृत किया था, उसमें कहा गया था, "इस सभा का उद्देश्य अपने साहित्य और दूसरी कलाओं को पुजारियों, पंडितों और अप्रगतिशील वर्गों के आधिपत्य से निकाल कर उन्हें जनता के निकटतम संसर्ग में लाया जाय, उनमें जीवन और वास्तविकता लाई जाय, जिससे हम अपने भविष्य को उज्जवल कर सकें। हम भारतीय सभ्यता की परम्पराओं की रक्षा करते हुए अपने देश की पतनोन्मुखी प्रवृत्तियों की बड़ी निर्दयता से आलोचना करेंगे। और आलोचनात्मक तथा रचनात्मक कृतियों से सभी बातों का संचय करेंगे जिससे हम अपनी मंजिल पर पहुँच सकें। हमारी धारणा है कि भारत के नए साहित्य को हमारे वर्तमान जीवन के मौलिक तथ्यों का समन्वय करना चाहिए, और वह है हमारी रोटी का, हमारी दरिद्रता का, हमारी सामाजिक अवनति का और हमारी राजनैतिक पराधीनता का प्रश्न। तभी हम इन समस्याओं को समझ सकेंगे और तभी हममें क्रियात्मक शक्ति आएगी। वह सब कुछ जो हमें निष्क्रियता, अकर्मण्यता अन्धविश्वास की ओर ले जाता है, हेय है; वह सब कुछ जो हममें समीक्षा की मनोवृत्ति लाता है, जो हमें प्रियतम रूढ़ियों को भी बुद्धि की कसौटी पर कसने के लिए प्रोत्साहित करता है, जो हमें कर्मण्य बनाता है और हममें संगठन की शक्ति लाता है, उसी को हम प्रगतिशील समझते हैं।"

इस घोषणापत्र में लेखकों के कर्त्तव्य के बारे में कहा गया है, "भारतीय साहित्यकारों का धर्म है कि वह भारतीय जीवन में पैदा होने वाली क्रान्ति को शब्द और रूप दें और राष्ट्र को उन्नति के मार्ग पर चलाने में सहायक हों।"

यदि अमृतराय, शिवदानसिंह चौहान, रांगेयराघव आदि लेखक अपने आज के वक्तव्यों से इस घोषणापत्र की तुलना करेंगे, तो उन्हें मालूम हो जायगा कि उन्होंने सन् '३५–'३६ की तुलना में प्रगति की है या पीछे हटे हैं। अमृतराय इस प्रश्न पर विचार करें कि सन् '३६ में दरिद्रता, सामाजिक अवनति और राजनीतिक स्वाधीनता का सवाल उठा कर प्रेमचन्द ने हिन्दी लेखकों में फूट तो न डाली थी।•

सन् '३८ तक और भी लेखक इस नये मार्ग पर आये। जिन लोगों पर छायावादी कल्पना का रंग सबसे गहरा था, उन्होंने भी चोला बदलने की कोशिश की। जुलाई '३८ में "रूपाभ" का पहला अंक निकला। इसमें पंतजी का संपादकीय वक्तव्य ध्यान देने योग्य है। इसमें कहा गया है:—

"हमारा विचार रूपाभ में सम्पादकीय देने का नहीं था। हमें विश्वास था कि रूपाभ का वस्तुचयन ही अदृश्य रूप से इस प्रयोजन की पूर्ति कर सकेगा। किन्तु कविता के स्वप्नभवन को छोड़कर हम इस खुरदुरे पथ पर क्यों उतर आये, इस संबन्ध में दो शब्द लिखना आवश्यक हो जाता है। इस युग में जीवन की वास्तविकता ने जैसा उग्र आकार धारण कर लिया है, उसमें प्राचीन विश्वासों में प्रतिष्ठित हमारे भाव और कल्पना के मूल हिल गये हैं। श्रद्धा-अवकाश में पलने वाली संस्कृति का वातावरण आंदोलित हो उठा है और काव्य की स्वप्नजड़ित आत्मा जीवन की कठोर आवश्यकता के उस नग्न रूप से सहम गई है। अतएव इस युग की कविता स्वप्नों में नहीं पल सकती। उसकी जड़ों को अपनी पोषण सामग्री ग्रहण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है। और युग-जीवन ने उसके चिरसंचित सुखस्वप्नों को जो चुनौती दी है उसको उसे स्वीकार करना पड़ रहा है।

"अपने इस नवीन प्रयास में हमें जो आदर्श प्रेरित करते हैं उन्हें हम अंशतः अपनी विज्ञप्तियों में प्रकाशित कर चुके हैं, संभवतः हमारे पाठक उनसे

अभिज्ञ होंगे। हमारा समाज अपनी ही रूढ़ि रीतियों के भार से जर्जर हो रहा है। हमारा उद्देश्य इस इमारत में थूनियाँ लगाने का कदापि नहीं जिसका कि गिरना अवश्यंभावी है। हमतो चाहते हैं उस नवीन के निर्णय में सहायक होना जिसका प्रादुर्भाव हो चुका है। वह नवीन समाज वैज्ञानिक विचारों और आदर्शों से पुष्टि पाता हुआ असंख्य जनता के कल्याण को ही अपना ध्येय मानता है। यदि हम में सत्य के प्रति वास्तविक उत्साह है तो हम अपने महान् उत्तरदायित्व की अवहेलना नहीं कर सकते।

"वर्तमान युग में जो अनेक परस्पर विरोधी ज्ञान विज्ञान सम्बन्धी विचार-धाराओं का संघर्ष चल रहा है हम अपने पाठकों के साथ रूपाभ द्वारा उनका अध्ययन मात्र करना चाहते हैं। और उसके फलस्वरूप अपने देश और समाज में व्याप्त अंधविश्वासों एवं रूढ़ियों के ऊपर उस नवीन वैज्ञानिक दृष्टिकोण को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं जिसकी सहायता से हम जाति वर्ग देश राष्ट्र की सीमाओं को तोड़कर तथा धर्म और नीति सम्बन्धी विरोधी भावनाओ को जागृत करने का प्रयत्न कर सकें; और अपने मध्य वर्ग के सङ्कीर्ण व्यक्तिवाद से हृदय को मुक्त कर सामूहिक जीवन की ओर अग्रसर होने का सन्देश दे सकें।

"ऐतिहासिक दर्शन के एक दृष्टिकोण से विश्व जीवन को प्रगति देने के लिये प्रतिक्रिया भी अप्रत्यक्ष रूप से सहायक होती है। किंतु उस दृष्टि से भी प्रति-क्रिया को हम प्रयोजन मात्र समझ सकते हैं अपना इष्ट नहीं। उसके शमन के हेतु यद्यपि हम प्रतिक्रिया का अध्ययन करेंगे और उसकी चुनौती को स्वीकार करेंगे, किंतु हमारा निश्चित ध्येय प्रगति की शक्तियों को सक्रिय सहयोग देना ही होगा। मध्यवर्ग की संस्कृति और साहित्य ने किसी हद तक प्रगति की शक्तियों को सहयोग दिया है, फलतः प्रतिक्रिया और अंधविश्वासों के विरुद्ध प्रगतिशील शक्तियों के संयुक्त मोर्चे में उन्हें भी सम्मिलित किया जा सकता है। इस विषय में हमारी यही नीति होगी।"

कविता का स्वप्न भवन छोड़कर पन्त जी ने यथार्थ के खुरदुरे पथ पर आने का विचार करके साहस का परिचय दिया था। जब पन्तजी ने कहा कि इस युग की कविता स्वप्नों में नहीं पल सकती, तब उनके बहुत से प्रशंसक रुष्ट हो गये थे। यह भी संकीर्णतावाद था। पन्त जी ने बैठे-बिठाये हिन्दी काव्य-रसिकों

की पत्तल में छेद कर दिया। पन्त जी ने स्वीकार किया था कि पुराना समाज जर्जर होकर गिर रहा है, उसमें थूनियाँ लगाने से कुछ न होगा। उनका विचार था कि मध्ययुगीन भावनाओं का पल्ला छोड़ कर वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया जाय। आज वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण किस तरह अपना रहे हैं, यह सभी जानते हैं। "संयुक्त मोर्चा" यह भयानक टुकड़ा भी पुराना है। पन्त जी की राय थी कि मध्यवर्ग के साहित्य को प्रगतिशील शक्तियों के मोर्चे में शामिल किया जाय। किमाश्चर्यमतःपरम्।

स्वाधीनता और प्रगतिशील साहित्य के मसले पर सोवियत लेखकों ने भी काफी लिखा है। भारतीय प्रगतिशील साहित्य पर उनके विचार पाठकों के लिए दिलचस्प होंगे। इसलिए उन्हें यहाँ देकर हम यह चर्चा समाप्त करते हैं।

कलकत्ते की पत्रिका "यूनिटी" की आलोचना करते हुए य० मीस्कोया ने "सोवियत लिटरेचर" (नं० ४ १६५२) में लिखा है, "यूनिटी" का पहला अङ्क पिछली मई के शुरू में निकला था जब हिटलर जर्मनी पर विजय की वर्षी थी। ६ मई हिन्दुस्तान में दूसरी तरह की वर्षी भी है। यह उसके महान् कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर का जन्म दिन भी है। इसके अलावा उन्हीं दिनों बम्बई में अखिल भारतीय शान्ति सम्मेलन भी शुरू हो रहा था। और पहले अङ्क के सम्पादकीय, 'रवींद्रनाथ' ठाकुर और विश्वशांति, ने तीनों घटनाओं को सम्बद्ध कर दिया है।

"पत्रिका का कहना है कि रवींद्रनाथ का जीवन और कार्य आज के भारत में और भी महत्वपूर्ण हो जाता है। प्रतिक्रियावादी लोग लेखकों से कहते हैं कि तटस्थ रहो और "संघर्ष में किसी का पक्ष न लो" क्योंकि उनके दावे के अनुसार जो ऐसा करेगा वह स्वाधीन या सच्चा कलाकार नहीं है। यूनिटी ने इस ग़लत प्रचार की निंदा की कि कलाकार अपने चारों तरफ़ की जिंदगी में "दखल न दे।" उसका कहना था कि इस बारे में जरा भी शक नहीं है कि अगर रवींद्रनाथ आज जिंदा होते तो शांति के लिये सङ्घर्ष में वह सबसे आगे होते। अपने ज्वलंत हृदय के तमाम आवेग से वह उनकी भर्त्सना करते जो अपने को रवींद्रनाथका अनुयायी तो कहते हैं लेकिन दावा करते हैं कि कलाकारों को केवल अपने भीतर पैठना चाहिए और जीवन सङ्घर्स से अलग रहना चाहिए

क्योंकि मानव जाति के भविष्य से उन्हें कोई वास्ता नहीं है।

× × × ×

"साहित्य जीवन का दर्पण है और सङ्घर्ष के लिये एक अस्त्र है। यूनिटी इस मत का समर्थन करती है और उसमें जो कलात्मक रचनाएँ छपती हैं वे इन सिद्धांतों को मानती हैं। वह पाठक को वह भारत दिखलाती है जहाँ सात करोड़ रोज भुखमरी से मौत का सामना करते हैं, जहाँ जनता भयानक गरीबी में दिन काटती है, जहाँ दसमें से एक लिख पढ़ सकता है, जहाँ महामारी का हमला होता है, औ जहाँ करोड़ों को अभी मामूली मानव-अधिकार नहीं मिले क्योंकि वे नीची जाति के हैं—वह भारत जिसे अंग्रेज साम्राज्यवादियों ने दो विरोधी राज्यों में बाँट दिया है और जिन्हें आपसी खूँरेजी की तरफ़ ढकेला जा रहा है। लेकिन वह पाठकों को नया उदीयमान भारत भी दिखलाती है जो अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए लड़ने को खड़ा हो रहा है और अपने और दुनियाँ के लिये शांति माँग रहा है।"

कृश्नचंदर की किताब "आग और फूल" की आलोचना करते हुए अ० एलिखातोवा ने "सोवियत लिटरेचर" (नं० ११, १९५१) में लिखा है :—
"पिछली मई को बम्बई में होने वाला दूसरा अखिल भारतीय शांति सम्मेलन शांति के लिए भारत की कोटि-कोटि जनता की उत्कट अभिलाषा का प्रदर्शन था। हमले के लिए एक भी भारतीय सिपाही नहीं—हजार से ऊपर प्रतिनिधियों और महमानों के सम्मेलन ने एक राय से ऐलान किया था।

"सम्मेलन का प्रस्ताव कहता है, 'भारत की जनता को, आज की दुनियाँ में अपनी जगह देखते हुये युद्ध के खिलाफ शक्तिशाली और निर्णायक भूमिका अदा करना है। अगर भारत युद्ध और युद्ध छेड़ने वालों के खिलाफ सभी मसलों पर पूरी तरह से सुसंगत नीति अपनाये तो एशिया में शांति की रक्षा हो सकती है। और निःसन्देह एशिया में शांति का कायम रहना विश्वशांति को बहुत बड़ी देन होगी।

"युद्ध के खिलाफ़ सङ्घर्ष में भारतीय प्रगतिशील लेखक सक्रिय भाग ले रहे हैं। पुलिस के दमन और बहुत बड़ी भौतिक कठिनाइयों के बावजूद वे ऐन्लो

अमरीकी साम्राज्यवादियों और उनके हिंदुस्तानी सहायकों की हरकतों के खिलाफ़ अपनी जनता के सजीव हितों की हिम्मत से रक्षा करते हैं।"

"सोवियत लिटरेचर" (नं० २, १९५३) में "शांति के लिए सङ्घर्ष में भारतीय लेखक" शीर्ष लेखक में ए० पायेव्स्काया ने लिखा है—

"अर्सा हुआ कि भारतीय साहित्य दो राहों के शुरू होने की मञ्जिल तक पहुँच गया था। प्रगतिशील लेखकों ने उन प्रतिक्रियावादी लेखकों का विरोध किया, जो औपनिवेशिक गुलामी का समर्थन करते थे। उन्होंने इङ्गलैण्ड की औपनिवेशिक उत्पीड़न की नीति का जोरों से खण्डन किया जो भारतीय जनता और उनकी जातीय संस्कृति को तबाह कररही थी। इन दो खेमों के बीच की रेखा रूस की महान् अक्टूबर समाजवादी क्रांति के बाद और स्पष्ट हो गई। उसके बाद से जनता की सेवा के लिए लेखनी उठाने वाले प्रगतिशील लेखकों की संख्या बराबर बढ़ती गई है ।

"सन् ३० के बाद की घटनाओं ने (इटली द्वारा अबीसीनिया पर आक्रमण, स्पेन में हस्तक्षेप युद्ध, और यूरोप में नाजी आक्रमण के प्रसार ने) फासिज्म के बढ़ते हुए सङ्कट के खिलाफ प्रगतिशील लेखकों को अपनी शक्ति बटोरने के लिये प्रेरित किया। हिन्दुस्तान के प्रमुख लेखक प्रेमचन्द, मुल्कराज आनन्द और सजाद जहीर की पहलकदमी से, १९३५ में पैरिस में होने वाले संस्कृति की रक्षा के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के बाद ही भारत में प्रगतिशील लेखक सङ्घ की स्थापना हुई। इसकी पहली कान्फ्रेंस अप्रैल १९३६ में हुई।

"सङ्घ के प्राम्भिक घोषणा पत्र में कहा गया था—

'जो लोग संस्कृति से प्रेम करते हैं, उनका यह पवित्र कर्त्तव्य है कि देश में उन शक्तियों का साथ दें जो हिन्दुस्तान की राजनीतिक स्वाधीनता के लिए लड़ रही हैं और भारतीय जनता के स्वाधीनता-संग्राम में अपने तमाम रचनात्म प्रयास और अपने तमाम भौतिक और नैतिक साधन लगा रही हैं।' वह कार्यक्रम समय की कठिन कसौटी पर सही उतरा और सङ्घ की कार्यवाही, जैसे कल वैसे आज, सच्चे जनतन्त्र और देश की स्वाधीनता के लिए सङ्घर्ष की तरफ़, जनता के दुश्मनों के खिलाफ सङ्घर्ष की तरफ पूरी तरह और अडिगरूप से संचालित है।

"भारतीय लेखकोंकी प्रगतिशील पहल को रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने सक्रिय मदद दी। १६३८ में सङ्घ के उद्देश्यों की व्याख्या करने के लिये बुलाये हुए कलकत्ते के लेख-सम्मेलन में वह स्थापित हुए। सम्मेलन द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव-में साम्राज्यवादी प्रतिक्रियावाद के घने होने और फासिज़्म के बढ़ते खतरे की तरफ ध्यान खींचा गया और प्रगतिशील लेखकों से सतर्क रहने के लिए कहा गया।

"दूसरे महायुद्ध के दौर में प्र० ले० सङ्घ की बहुत सी शाखाएँ देश में थीं। सङ्घ के सदस्यों ने खुलकर विश्व फासिज्म की शक्तियों का विरोध किया और भारत के 'पाँचवे दस्ते; का पर्दाफाश किया। वे इस बात को अपना एक प्रमुख कर्तव्य समझते थे कि हिन्दुस्तानी जनता को सोवियत जनता की जिन्दगी से, रूस के क्लासिक और सोवियत साहित्य से, और सबसे पहले गोर्की की रचनाओं से, जिसे वे अपना शिक्षक मानते थे, परिचित करायें।

"उस महान् लेखक की १४ वीं वर्षी पर भाषण देते हुए भारतीय प्रगतिशील लेखकों में से एक, कृश्नचन्दर ने एक स्मृति-सभा में कहा था—'हमें आज गोर्की के ज्वलंत शब्द याद हैं। हम साम्राज्यवाद के देवताओं से लड़ेंगे, हम इन देवताओं के सामने अपना सिर झुकाने से इन्कार करते हैं।"...... नये साहित्य के झण्डे पर गोर्की का हृदय है। और इस हृदय में विश्वशान्ति है।'

"भारत का विभाजन होने पर हिन्दुस्तान के प्रगतिशील लेखक कठोर पुलिस दमन का मुकाबला करते हुए ऐंग्लो-अमरीकी साम्राज्यवाद और घरेलू प्रतिक्रियावाद के खिलाफ वीरता से और जम कर संघर्ष करते रहे हैं और जनतन्त्र और स्वाधीनता के लिये भारतीय जनता के अधिकारों का समर्थन करते रहे हैं। १६४६ की गर्मियों में प्र० ले० संघ के घोषणा पत्र ने कहा था, 'साम्राज्यवाद के खिलाफ सङ्घर्ष में साहित्य निष्क्रिय नहीं है। पूर्ण स्वाधीनता और जनतंत्र के लिए जनता के सङ्घर्ष में प्रेरणा देने, नेतृत्व करने और पथप्रदर्शन करने की अपनी भूमिका उसे कारगर तरह से पूरी करनी चाहिए, उसे जनता की आकांक्षाएँ प्रकट करनी चाहिए जो विदेशी साम्राज्यवाद ही से पीड़ित नहीं है बल्कि भारतीय पूँजीवाद, सामन्तों और जमीदारों भी से पीड़ित है।....भारतीय साहित्य के लिये देश के जन साधारण से अलग कोई भविष्य नहीं है जो मजदूर वर्ग के नेतृत्व में आज स्वाधीन मानव जीवन के लिये और शोषण के

सभी रूप खत्म करने के लिए लड़ रहे हैं। हमारे लेखक जितना ही इस आन्दोलन के नजदीक आयेंगे, उतना ही उनके साहित्य की विषय--वस्तु और रूप दोनों ही समृद्ध होंगे।'

"यह स्वाभाविक है कि भारत के आगे बढ़े हुए लेखक एक चक्करदार और कभी-कभी परस्पर विरोधी रास्ते से गुजरे हैं, इसके पहले कि वे पूँजीपतियों के चिन्तन के साँचों को छोड़ें और जनता की सेवा का विचार अपनायें, इसके पहले कि वे यथार्थ के सच्चे चित्रण और ऐंग्लो अमरीकी साम्राज्यवादियों तथा उनके भारतीय चाकरों की भूमिका का पर्दाफाश करने की माँग करें।"

तुलसी-साहित्य के सामन्तविरोधी मूल्य

दो तरह के लेखकों ने तुलसी-साहित्य के मूल्याङ्कन को बहुत आसान बना दिया है। पहली तरह के लेखक वे हैं जो समझते हैं कि तुलसीदास ने रामचरितमानस लिखकर इस्लाम के आक्रमण से हिन्दू धर्म की रक्षा कर ली और राम, सीता आदि के चरित्रों द्वारा हिन्दू समाज और हिन्दू संस्कृति के लिये अमर आदर्शों की प्रतिष्ठा कर दी। दूसरी तरह के आलोचक वे हैं जो समझते हैं कि तुलसीदास ने वर्णाश्रम धर्म के छिन्न-भिन्न होने के समय फिर ब्राह्मणवाद का समर्थन किया, नारी की पराधीनता को आदर्श के रूप में रखा और जनता को भक्तिरूपी अफ़ीम की घूँटी देकर सुला दिया।

पहली तरह के आलोचक तुलसीदास को श्रद्धा की दृष्टि से उन्हें हिन्दू धर्म का उद्धारक मानते हैं। दूसरी तरह के आलोचक उन्हें प्रतिक्रियावादी मानते हैं, उनकी कला का महत्व स्वीकार करते हुए भी उनकी विचारधारा को प्रगति-विरोधी मानते हैं। दोनों तरह के आलोचक—श्रद्धा के बावजूद—एक ही नतीजे पर पहुँचते हैं और वह यह कि तुलसीदास जर्जर होती हुई सामन्ती संस्कृति के पोषक थे, इसलिये आज की जातीय संस्कृति के निर्माण में—"ऊँची" जाति और "नीची" जाति के हिन्दुओं, मुसलमानों आदि की मिली-जुली संस्कृतिके निर्माण में—उनकी विचारधारा कोई मदद नहीं दे सकती।

दोनों ही तरह के आलोचक भारतीय जनता को—खासकर हिन्दी भाषी जनता को—तुलसीदास की सांस्कृतिक विरासत से वंचित कर देते हैं।

क्या इस तरह की धारणाएँ वैज्ञानिक हैं? क्या वे जनता के हित में, हमारी जातीय संस्कृति के विकास के हित में हैं?

सोलहवीं सदी या उससे कुछ आगे—पीछे भारत में भक्त कवियों की एक बाढ़ सी आगई। न सिर्फ ब्रज अवध आदि हिन्दी प्रदेशों में बल्कि बङ्गाल, पञ्जाब, महाराष्ट्र आदि प्रदेशों में भी यह बाढ़ दिखाई दी। संत-साहित्य ने एक

विराट आन्दोलन का रूप ले लिया। जनता की भाषा में ऐसी रचनाएँ होने लगीं जो गाँवों तक में फैल गईं। इन रचनाओं में प्रेम को सबसे ज्यादा महत्व दिया गया, वर्ण और धर्म का भेद प्रेम में बाधक न समझा गया, अक्सर इस तरह के भेद की कड़ी आलोचना भी की गई। इन प्रेम मार्गी कवियों में हिन्दू, मुसलमान, सवर्ण और अछूत, सभी तरह के लोग हुए। उनमें कुछ सगुणवादी थे, कुछ निर्गुणवादी, कुछ कृष्ण के उपासक थे, कुछ राम के, कुछ यह सबकुछ एक साथ थे। मूल बात यह थी कि वे उपासना में प्रेम को मुख्य चीज़ मानते थे।

क्या यह भक्ति आन्दोलन आकस्मिक घटना थी? क्या वर्ण-व्यवस्था और धार्मिक कट्टरता के बन्धन तोड़कर प्रेम की इस धारा का बहना दैवेच्छा से हुआ? मार्क्सवाद सिखाता है कि संस्कृति किसी समाज की आर्थिक व्यवस्था का मानसिक प्रतिबिंब है। आर्थिक व्यवस्था अगर नींव है तो संस्कृति उसके ऊपर की इमारत है। भक्ति आन्दोलन का आधार क्या था?

जो लोग समझते हैं कि सोलहवीं सदी में सामन्ती समाज का ढाँचा ज्यों का त्यों बना हुआ था, अपने भीतर पैदा होने वाली नयी शक्तियों के प्रसार से चरमराने न लगा था, वे भक्ति आंदोलन को या तो पुराने सामंती संबन्धों का ही प्रतिबिंब मानेंगे या फिर उसे शुद्ध कल्पनाजन्य आन्दोलन मानेंगे जिसकी जड़ें नये सामाजिक यथार्थ में गहरे न पैठी थीं। दोनों ही हालत में वे भक्ति आन्दोलन के ऐतिहासिक महत्व से इन्कार करेंगे।

संत साहित्य का प्रसार भारतीय संस्कृति के इतिहास में एक अनूठी घटना थी, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता। अचानक संस्कृत का प्रभुत्व, जो सैकड़ों साल से चला आ रहा था, खत्म होता दिखाई दिया। जनता की संस्कृति, जिसे पुरोहितों ने अब तक दबाया था, पुष्पित और पल्लवित होने लगी। जो लोग खुलकर पुरोहितों के खिलाफ़ एक शब्द न कह सकते थे, अब खुले आम उन्हें चुनौती देने लगे। इसका कारण क्या था? क्या सामंती व्यवस्था के कमज़ोर हुए बिना यह सब संभव था?

१६ वीं सदी के लगभग—शेरशाह और अकबर के शासन काल में—उत्तर भारत में सामंती व्यवस्था काफ़ी कमज़ोर हुई। नहरें खुदने और सड़कें

बनने से यातायात में उन्नति हुई; एकही तरह की मुद्रा के चलन से व्यापार में सुविधा हुई; राज्य और काश्तकार में सीधा सम्बन्ध स्थापित होने से ग्राम पंचायतों का नितान्त अलगाव कम हुआ; बारूद के इस्तेमाल से केन्द्रीय राज्य-सत्ता जागीरदारों की स्वच्छन्दता कम करके उन्हें अपने मातहत कर सकी; यूरोप में भारत का व्यापार बहुत बड़े पैमाने पर आगे बढ़ा ; उत्तर भारत में शहरों की संख्या ही नहीं बढ़ी, उनकी जन-संख्या और उनका व्यवसायी महत्व भी बढ़ा; जगह-जगह अपने अधिकारों के लिये जनता ने संघर्ष किये और इस तरह भी उसकी एकता बढ़ी। इन परिस्थितियों में सामन्ती ढांचा जर्जर हुआ उस ढांचे के भीतर व्यापारियों द्वारा पैदा किये पूंजीवादी सम्बन्ध जन्म लेने लगे। पुराने जनपदों का अलगाव काफ़ी दूर हुआ और वे मिल कर एक जाति (नेशन) के रूप में संगठित होने लगे। भक्ति आन्दोलन इस जातीय आन्दोलन का सांस्कृतिक प्रतिबिंब था।

इस जातीय आन्दोलन में भाग लेने वाले व्यापारी, जुलाहे, कारीगर किसान आदि थे। इनकी एकता की चाह, सामंती अलगाव को दूर करके मिलने की चाह भक्ति आन्दोलन में प्रकट हुई। ऊपर से देखने में मालूम होगा कि भक्त कवियों की मूल समस्या संसार से मुक्तिप ाने की समस्या थी, उनके सबसे बड़े शत्रु काम, क्रोध, मद, लोभ आदि उनके मनोविकार ही थे। गांधी-वादी विचारक संत साहित्य को इसी दृष्टि से महत्वपूर्ण मानते हैं। लेकिन मज़दूर वर्ग और पूंजीपतियों के संघर्ष के पहले आम तौर से देखा यह गया है कि वर्ग-संघर्ष एक धार्मिक लिबास में सामने आता है। उस लिबास के नीचे छिपे हुए ऐतिहासिक तथ्य को देखना हर वैज्ञानिक विचारक का कर्तव्य है।

पुरोहितों और राजाओं से दबे हुए लोगों ने जब सांसारिक बन्धनों से मुक्ति पाने के लिये अपना अधिकार घोषित किया तब शासक वर्ग प्रसन्न नहीं हुआ। मुक्ति और धर्म पर वह अपना इजारा समझता था। हर वर्ण के लिये उसने धर्म-कर्म की व्यवस्था कर रखी थी; उसमें किसी तरह का हेर फेर करने पर कठोर दंड देने की व्यवस्था भी थी। इसलिये सामंतों और पुरोहितों के खिलाफ़ जनता के संघर्ष ने अगर धार्मिक लिबास पहना तो वह एक अनिवार्य ऐतिहासिक आवश्यकता थी।

१६ वीं सदी के जातीय आन्दोलन का नेतृत्व बहुधा व्यापारी कर रहे थे। उस आंदोलन ने जहाँ तहाँ ही सक्रिय संघर्ष का रूप लिया। इसलिये उसके सांस्कृतिक प्रतिबिम्ब—भक्ति आंदोलन—पर भी अक्सर निष्क्रियतावाद का रंग चढ़ा दिखाई देता है। क्रान्तिकारी मज़दूर वर्ग और उसके नेतृत्व के अभाव में यह रंग चढ़ना भी एक हद तक अनिवार्य था। आज उसके लिये किसी तरह का ऐतिहासिक समर्थन बाकी नहीं रह गया।

गोस्वामी तुलसीदास किस हद तक भक्ति आंदोलन का प्रतिनिधित्व करते हैं? किस हद तक उनके विचार हमारे सांस्कृतिक विकास में आज सहायक हो सकते हैं?

रामचरितमानस में जहाँ-तहाँ विप्रपद पूजा को बहुत बड़ा धर्म बतलाया गया है और विशेष रूप से उत्तरकाण्ड में शूद्रों के अपना वर्णधर्म त्यागने पर क्षोभ प्रकट किया गया है। इन पंक्तियों को अलग करके देखने से यह धारणा बन सकती है कि तुलसीदास अपने समय की सामंत-विरोधी गतिविधि से असंतुष्ट थे और वे पुरानी व्यवस्था को ही बनाये रखना चाहते थे। क्या हम वर्णधर्म के समर्थन को तुलसीदास के विचारों की ऐतिहासिक सीमा मानें जिससे उनकी मूल विचारधारा पर आँच नहीं आती?

यथार्थ यह है कि वर्णाश्रम धर्म के समर्थक पुरोहितों ने तुलसीदास को काफ़ी सताया था और तुलसीदास ने भी उनका उचित उत्तर देने में आगा पीछा न किया था।

तुलसीदास अपने जन्म के बारे में कहते हैं:—

"जायो कुल मंगन बधावनो बजायो सुनि,
भयो परिताप पाप जननी जनक को।
बारे तें ललात बिललात द्वार द्वार दीन,
जानत हौं चारि फल चारि ही चनक को।"

यह समझने का कोई कारण नहीं दिखाई देता कि केवल अपनी दीनता से इष्टदेव को प्रभावित करने के लिये उन्होंने यह लिख दिया है। इसी तरह "लालची ललात बिललात द्वार द्वार दीन, बदन मलीन मन मिटै ना बिसूरना" आदि में अत्युक्ति हो सकती है लेकिन तुलसी ने निर्धन और अकुलीन बालक

को जो अपमान सहना पड़ता है, उसे स्वयं सहा था इसमें संदेह नही। और यह अपमान बालकपन तक सीमित न था। जैसे-जैसे उनकी लोकप्रियता बढ़ती गई, वैसे-वैसे उनका विरोध भी बढ़ा। जब लोग उनकी जातिपाँति की चरचा करके उनका उपहास करते थे, तब तुलसीदास यही कहकर जवाब देते थे कि जो गोत्र राम का है, वह गोत्र उनके सेवक का है। कभी इन विरोधियों से उदासीन होकर वे कहते—"मेरे जाति पाँति न चहौं काहू की जाति पाँति, मेरे कोऊ काम को न हौं काहूके काम को।" लेकिन कभी-कभी जातिवादियों को चुनौती देते हुए वह कहते :—

"धूत कहौ, अवधूत कहौ रजपूत कहौ जुलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब काहू की जाति बिगार न सोऊ।
तुलसी सरनाम गुलाम है, राम कौ जाको रुचै सो कहै कछु ओऊ।
माँगि कै खैबो मसीत को सोइबो, लेबै को एक न देवे को दोऊ।"

इस एक छन्द में तुलसीदास के समूचे जीवन का संघर्ष चित्रित हो गया है। निसंदेह उनके कार्यों से पुरोहित वर्ग आतङ्कित हो उठा था। वह उन्हें तरह-तरह के नाम देने लगा था और तुलसीदास को कहना पड़ा, तुम अपनी जाति लेकर खुश रहो, हमें तुमसे लेना एक है न देना दो।

जो लोग समझते हैं कि गोस्वामी तुलसीदास शूद्रों पर ब्राह्मणों के प्रभुत्व का समर्थन करते थे, वे भूल जाते हैं कि उन्होंने स्वयं इस प्रभुत्व का कटु अनुभव किया था। कवितावली के इन छंदों में महाकवि का एक निडर व्यक्तित्व हमारे सामने उभर कर आता है जो रामभक्ति का प्रचार करता हुआ वर्णवादियों के विरोध को ज़रा भी पर्वाह नहीं करता। समूचा तुलसीसाहित्य इस चित्र की सत्यता प्रमाणित करता है।

वर्ण और जाति की व्यवस्था को चुनौती देता हुआ तुलसी का व्यंग्यस्वर सुनिये—कौन धौं सोममयागी अजामिल अधम कौन गजराज धौं बाजपेयी,

इससे स्पष्ट है कि तुलसी की भक्ति सभी जातियो और वर्णों के लोगों को मिलाने वाली थी।

और जो लोग समझते हैं कि तुलसीदास ने इस्सलाम से हिन्दू धर्म की रक्षा का, वे कृपाकर उस पंक्ति पर विचार करें जिसमें महाकवि ने मांग कर खाने

और मस्जिद में सोने की बात कही है। वर्ण-व्यवस्था के रक्षकों ने ही भारतीय जनता के हृदय सम्राट् तुलसीदास की यह दशा की थी। यदि तुलसीदास कुलीनता और जातिवाद के समर्थक होते तो उनकी आत्म-निवेदन वाली रचनाओं में बार-बार यह स्वर न सुनाई देता—"लोग कहैं पोचु, सो न सोचु न संकोचु मेरे ब्याह न बरेखी जाति पाँति न चहत हौं।" तुलसीदास की रामभक्ति का एक प्रमुख कारण यह है कि उनके प्रभु ने जातिहीन व्यक्तियों को अपनाया था। दोहावली का यह दोहा देखिये :—

"जातिहीन अघजनम महि, मुकुत कीन अस नारि।
महामंद मन सुख चहसि, ऐसे प्रभुहिं बिसारि॥"

पार्वती-मंगल में शिव-विवाह का वर्णन करते हुए वर की विशेषताओं में यह भी है—

"कहहु काह सुनि रीझिहु बरु अकुलीनहिं।
अगुन अमान अजाति मातुपितु हीनहिं॥"

अकुलीनता का जिक्र रामचरितमानस में भी है—

"निर्गुन निलज कुबेष कपाली।
अकुल अगेह दिगम्बर ब्याली॥"

भक्त कवियों का मूल मंत्र था—"जाति-पाँति पूछे नहिं कोई, हरि का भजै सो हरि का होई।" तुलसीदास इस मंत्र को सिद्ध करने वालों की चर्चा बार-बार करते हैं। वह वाल्मीकि का हवाला देते हैं जो मरा-मरा कहकर भी मुनि हो गये—"जहाँ बालमीकि भये ब्याध ते मुनीन्द्र साधु, मरामरा जपे सुनि सिष ऋषि सात की।" और भी,—

"जान आदि कवि तुलसी नाम प्रभाउ।
उलटा जपत कोल ते भए ऋषिराउ॥"

इसी तरह सबरी गीध आदि का हवाला सभी संतों के साहित्य में मिलता है जिन्हें प्रेम के वश होकर राम ने मुक्ति दी।

"सबरी गीध सुसेवकनि, सुगति दीन्ह रघुनाथ।
नामु उधारे अमित खल, बेद बिदित गुनगाथ।"

तुलसीदास की भक्ति वर्ण, जाति, धर्म आदि के कारण किसी का बहिष्कार

नहीं करती। जो "अति अघरूप" समझे जाते हैं, उन "आभीर जवन किरात खस स्वपचादि" के लिये भी वह कहते हैं कि राम का नाम लेकर वे भी पवित्र हो जाते हैं। इससे उनकी भक्ति का जनवादी तत्व अच्छी तरह प्रकट हो जाता है। जिन तमाम लोगों के लिये पुरोहित वर्ग ने उपासना और मुक्ति के द्वार बन्द कर दिये थे, उन सबके लिये तुलसी ने उन्हें खोल दिया। तुलसी की जाति और कुलीनता पर पुरोहितों के आक्षेपों का यहीं कारण था।

जब राम चित्रकूट पहुँचते हैं, तब तुलसीदास कोल किरातों को नहीं भूलते,—"यह सुधि कोल किरातन्ह पाई। हरषे जनु नवनिधि घर आई।" बीस पंक्तियों में राम से उनकी भेंट का वर्णन करने के बाद तुलसी यह टिप्पणी देते हैं,—"रामुहिं केवल प्रेम पियारा। जानि लेउ जो जाननिहारा।" जब आप याद करेंगे कि मुगल बादशाहों के ज़माने में इन कोलकिरातों का आखेट होता था और जो पकड़े जाते थे, वे काबुल में बेच दिये जाते थे और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के शासन में लाखों की तादाद में इन्हें जरायाम पेशा करार दिया गया, तब तुलसीदास की प्रगतिशीलता समझ में आयेगी।

केवट और निषाद के प्रसङ्ग में तुलसीदास ने विशेष रूप से दिखलाया है कि ये "नीची" जाति के लोग राम को प्यार करके भरत और लक्ष्मण का दर्जा पा जाते हैं। जब निषाद अयोध्या पहुँचता है तब सब लोग उसका इस तरह आदर करते हैं मानों लक्ष्मण आ गये हों।

"कहि निषाद निज नाम सुबानी।
सादर सकल जोहारी रानी।
जानि लखन सम देहिं असीसा।
जिअहु सुखी सय लाख बरीसा।
निरखि निषादु नगर नरनारी।
भए सुखी जनु लखनु निहारी।"

राम के अयोध्या लौटने पर जब निषाद विदा होता है, तब राम स्वयं कहते हैं,—

"तुम्ह मम सखा भरत सम भ्राता।
सदा रहेहु पुर आवत जाता।"

वास्तव में तुलसी के राम पर कुछ पक्षपात का दोष भी लगाया जा सकता है कि उच्चवर्णों में से किसी को उन्होंने न तो सखा कहा, न भरत सम भ्राता कहा! यह स्नेह मानों उन्होंने वर्णाधम लोगों के लिये ही रख छोड़ा था।

तुलसी का राम-राज्य वर्णहीन नहीं है। लेकिन सरयू के राजघाट पर चारों वर्ण एक साथ स्नान जरूर करते हैं।

"राजघाट सब विधि सुन्दर वर।
मज्जहिं तहां बरन चारिउ नर।"

इस तरह के राजघाटों का आज भी कितना अभाव है, सभी लोग जानते हैं।

इसलिये जब उत्तरकाण्ड में हम तुलसी को इस बात पर क्षोभ प्रकट करते देखते हैं कि शूद्र ब्राह्मणों की बराबरी करने लगे हैं, तब हम इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि या तो उनके विचारों में अन्तर्विरोध है या फिर यह पुरोहितों का चमत्कार है जिन्होंने पहले तो तुलसी का विरोध किया लेकिन जब उनकी लोकप्रियता रोके न रुकी, तब उन्होंने अपने काम की बातें मिलाकर रामचरितमानस को अपने अनुकूल बनाने की कोशिश की। यह काम उनके लिये कुछ नया भी न था; वह और भी ग्रन्थों के साथ यह काण्ड कर चुके थे। तुलसी की भक्ति पुरोहितों का इजारा तोड़ने वाली थी। वह आभीर जवन किरात खस स्वपचादि सभी को गले लगाती थी, केवट और निषाद जैसे वर्णाधमों पर उसका स्नेह और भी ज्यादा था। वह भक्ति उस व्यवस्था का विरोध करती थी जो मनुष्य मनुष्य को वर्णों के आचार-विचार की जंजीरों में जकड़े हुए थी। तुलसी स्वयं उन लोगों में से थे जिन पर जातिहीनता और अकुलीनता का आक्षेप किया जाता था। उन्होंने बड़ाई पाने के लिये पुरोहित वर्ग की खुशामद नहीं की; स्वयं कुलीन बनकर पैर नहीं पुजाये। उन्होंने समाज के इतर जनों का पक्ष लिया और राम के प्रेम के आधार पर उनकी समानता की घोषणा की। उनकी भक्ति का यह सामन्त-विरोधी मूल्य है जिसे हमें अपनाना चाहिये और समाज में ऊँच-नीच का भेद, आभीर जवन किरात खस स्वपचादि का भेद सदा के लिये खत्म कर देना चाहिये। गोस्वामी तुलसीदास ने यह

काम भक्ति द्वारा किया था; आज जनता यह काम मानववाद और जातीय पुनर्जागरण के द्वारा करती है।

पुरोहित वर्ग ने जो व्यवहार "नीची" जातियों के साथ किया था, वही व्यवहार उसने स्त्रियों के साथ किया था। उपासना और उच्च शिक्षा से उन्हें वंचित किया गया था। उनके लिये एक ही धर्म था, कि पति की सेवा करें। तुलसीदास ने स्त्रियों के लिये उपासना के द्वार खोल दिये। राम से मिलने, उनका स्वागत सत्कार करने, उनका स्नेह पाने में स्त्रियां सबसे आगे रहती हैं। चाहे जनकपुर हो, चाहे अयोध्या हो, चाहे चित्रकूट का मार्ग हो, हर जगह इनकी भीड़ की भीड़ दिखाई देती है। जितनी आत्मीयता तुलसी ने परस्पर ग्रामीण स्त्रियों और सीता में दिखाई है, उतनी राम भरत या निषाद में भी नहीं दिखाई। ये ग्रामीण स्त्रियाँ ही पूछ सकती थीं, "कोटि मनोज लजावन हारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे।" और सीता ही उनके प्रश्न का उत्तर देसकती थीं :

"बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी।
पियतन चितै भौंह करि बाँकी।
खंजन मंजु तिरीछे नैननि।
निजपति कहेउ तिन्हहिं सिय सैननि।

और लोग राम के पैरों पड़ते हैं, उनसे भक्ति का वरदान माँगते हैं, ये स्त्रियाँ सीता के पैर तो पड़ती हैं लेकिन उल्टा उन्हें आशीष देती हैं।

अति सप्रेम सिय पायँ परि, बहु बिधि देहिं असीस।
सदा सोहागिनि होहु तुम, जब लगि महि अहि सीस।

और जब राम अयोध्या लौटते हैं तो उनके स्वागत करने में स्त्रियाँ सबसे आगे हैं। रामचन्द्र को उदय होते देखकर अयोध्या नगर में समुद्र की तरह ज्वर आगया है और इस ज्वार की बढ़ती हुई तरंगें स्त्रियां ही हैं। रामचरितमानस में भी यह दोहा अद्भुत है—

"राकाससि रघुपति पुर, सिंधु देखि हरखान।
बढ़ेउ कोलाहल करत जनु, नारि तरंग समान॥"

दूसरी जगह राम के विरह का सूर्य अस्त होने पर तुलसी अयोध्या के सर में

स्त्रियों को कुमुद की तरह खिला हुआ देखते हैं। इन सब को तुलसीदास अपावन समझते हों तो इससे ज्यादा आश्चर्य की बात क्या हो सकती है।

सूरदास की तरह तुलसी की स्त्रियां भी कृष्ण को देखने के लिये पति को भी छोड़ कर भाग आती हैं,—"तुलसिदास जेहि निरखि ग्वालिनी भजीं नात पति तनय बिसारी।" इससे यह तो नहीं मालूम होता कि पति ही ईश्वर है। लेकिन सामन्ती समाज में पति-भक्ति पर सब से सुन्दर टिप्पणी रामचरितमानस में है जहां उमा अपनी मां से बिदा होती हैं।

"जननी उमा बोलि तब लीन्ही। लै उछंग सुन्दर सिख दीन्ही।
करेहु सदा संकर पद पूजा। नारि धरम पति देव न दूजा।
बचन कहत भरि लोचन बारी। बहुरि लाइ उर लीन्हि कुमारी।
कत बिधि सृजी नारि जग माहीं। पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं।
भै अति प्रेम बिकल महतारी। धीरज कीन्ह कुसमउ बिचारी।"

एक तरफ पति सेवा का उपदेश, दूसरी तरफ़ पराधीन नारी के लिये स्वप्न में भी सुख न मिलने पर क्षोभ; यह कला तुलसीदास को छोड़कर और कहीं नहीं है। जो लोग "ढोल गँवार शूद्र पशुनारी" वाली पंक्ति को वेदवाक्य समझते हैं, वे इस पंक्ति पर विचार करें।

"कत विधि रची नारि जग माहीं।
पराधीन सपनेहुं सुख नाहीं।"

तुलसीदास स्त्रियों को पराधीन जानते हुए भी उन्हें पशुओं की तरह ताड़न की अधिकारी कहें तो इससे अधिक निर्ममता और क्या हो सकती है? लेकिन जैसा ममतापूर्ण हृदय तुलसीदास ने पाया था, वैसा हृदय और किस कवि ने पाया है? ढोल गंवार वाली पंक्ति समुद्र की बातचीत में आई है जहां वह जल होने के नाते अपने को जड़ कहता है और इस नियम की तरफ इशारा करता है कि जड़-प्रकृति को चेतन ब्रह्म ही संचालित करता है। वहां एकदम अप्रासंगिक ढंग से यह ढोल गंवार शूद्र वाली पंक्ति आ जाती है। निःसन्देह यह उन लोगों की करामात है जो यह मानने के लिये तैयार नहीं थे कि नारी पराधीन है और उसे स्वप्न में भी सुख नहीं है।

सामन्ती व्यवस्था में स्त्रियों के लिए एक धर्म है तो पुरुषों के लिये दूसरा

है। तुलसी के रामराज्य में दोनों के लिए एक ही नियम है—

"एक नारिव्रतरत सब झारी।
ते मन बच क्रम पतिहितकारी।"

इस तरह पुरुष के विशेषाधिकारों को न मान कर तुलसीदास ने दोनों को समानरूप से एक ही व्रत पालने का आदेश दिया था। लेकिन विशेषाधिकार वालों ने ढोल गंवार आदि जैसी पंक्तियां तो गढ़लीं, और एक नारिव्रतरत होने की बात चुपचाप पी गये। वर्तमान समाज में भी नारी अधिकार-वंचित हैं। पराधीनता में उसे सुख नहीं है। तरह तरह की मीठी बातों से उसे भुलावा दिया जाता है लेकिन उसकी दासता ढंकी नहीं जा सकती। तुलसीदास के समय में ऐसी परिस्थितियां नहीं थीं कि पराधीनता के पाश तोड़े जा सकें। वह केवल इस पराधीनता पर क्षोभ प्रकट कर सकते थे और एक ऐसे समाज का स्वप्न देख सकते थे जिसमें पुरुष भी एक नारि व्रतधारी हों। राम के चरित्र में उन्होंने ही दिखाया। यह दूसरी बात है कि हिन्दी आलोचना में जितनी चर्चा सीता के पतिव्रत की है, उतनी राम के पत्नीव्रत की नहीं। आज हम इस परिस्थिति में हैं कि तुलसी के स्वप्न को सत्य कर दिखायें।

सामन्ती समाज में साधारणतः विवाह पहले हो जाता है, प्रेम बाद में शुरू होता है। तुलसीदास ने राम और सीता के विवाह में यह दिखलाया है कि विवाह प्रेम की परिणति है। यद्यपि सीता की प्रीति पुरातन है, फिर भी लोक-व्यवहार की दृष्टि से कंकन किंकिन नूपुरधुनि में राम का मदन दुंदुभी सुनना, सियमुख की तरफ नयन चकोरों का देखना, और सीता द्वारा राम को हृदय में बिठा कर पलक कपाट लगा देना आदि क्रियाओं का वर्णन तुलसी के मर्मी कवि हृदय का परिचय ही नहीं देता, उनके रूढ़ियों को तोड़ने वाले साहस का भी परिचय देता है। तुलसी केवल भक्त नहीं हैं, वे प्रेम और सौंदर्य के कवि भी हैं। विवाह मंडप में सीता की तन्मयता का कितना सजीव और बारीक चित्र उन्होंने खींचा है।

"राम को रूप निहारति जानकी कंकन के नग की परछाहीं
याते सबै सुधि भूलि गई कर टेकि रही पलटारति नाहीं॥"

और अपने बरवै छन्दों में तो मानों तुलसीदास ने अवध के ग्राम गीतों की

सारी मिठास उंडेल दी है।

"का घूँघट मुख मूँदहु नवला नारि।
चाँद सरग पर सोहत यहि अनुहारि॥
गरब करहु रघुनन्दन जनि मन माँह।
देखहु आप्पनि मूरति सिय कै छाँह॥
उठी सखी हँसि मिस करि कहि मृदु बैन।
सिय रघुबर के भये उनींदे नैन॥"

तुलसीदास ने जनसाधारण के सौन्दर्य—बोध की जैसी सुकुमार व्यंजना की है, वह हिन्दी साहित्य में अनुपम है। वर्तमान अर्द्ध सामन्ती व्यवस्था में मनुष्य की प्रेम और सौदर्य की कोमल भावनाएँ बुरी तरह कुचली जाती हैं। विवाह का आधार है सम्पत्ति और कुलीनता; प्रेम करने के लिये प्रेयसी अलग होती है, बच्चे पैदा करने के लिये पत्नी अलग। सामंती बंधनों के खत्म होने पर सौन्दर्य और प्रेम की भावनाएँ अपने सहज रूपमें पल्लवित होंगी और नारी कवियों की नायिका मात्र न रह जायगी। वह श्रम करने वाली, समान अधिकार वाली नागरिक भी होगी।

तुलसीदास ब्रह्मचर्य का पालन करके तपस्या द्वारा ज्ञान प्राप्त करने का आदर्श नहीं रखते। नारद में ब्रह्मचर्य पालन करने का दंभ पैदा हुआ था, सो वह बंदर का चेहरा पाकर नारी के पीछे दौड़ते फिरे। और विंध्याचल में जो व्रतधारी तप कर रहे थे, वे अहल्या का उद्धार करने वाले राम के आने की बात सुन कर बहुत प्रसन्न हुए कि अब सब शिलाएँ चंद्रमुखी हो जायेंगी। तुलसीदास के नायक साधारण जनों की तरह विवाह जीवन बिताने वाले हैं। इसलिए तुलसीदास योगवादियों के सहज विरोधी बन जाते हैं। उनके लिये वह कहते हैं, "जागैं जोगी जंगम जती जमाती ध्यान धरैं डरैं उर भारी लोभ मोह कोह काम के।" काम क्रोध मद लोभ को जीतने वाले वीर लोग रात भर ध्यान लगाये जागा करते हैं लेकिन "सोवै सुख तुलसी भरोसे एक राम के।" सूरदास जैसे कवियों की तरह तुलसीदास भी योग के मुकाबले में सगुण की सरस उपासना की हिमायत करते हैं। कृष्ण गीतावली में तुलसी की गोपियाँ भी कहती हैं—

"जोग जुगति अरु मुकुति बिबिधि बिधि वा मुरली पर वारौं।"

हिन्दी में अनेक ऐसे पुरानपंथी लेखक हैं जो योग के उद्धार में भारतीय संस्कृति का प्रसार देखते है । उन्हें याद रखना चाहिए कि तुलसी सूर आदि कवियों ने चार सौ साल पहले ही भारतीय संस्कृति को चमत्कारवादियों के प्रभाव से मुक्त करने का बीड़ा उठाया था। कुण्डलिनी जगाने की कितनी ही नवीन कोशिशें करें, यह अर्द्धसामन्ती समाज व्यवस्था अब कुछ ही दिनों की मेहमान है।

जहाँ तक संसार के प्रति दृष्टिकोण का संबन्ध है, तुलसीदास और निर्गुण-वादियों में एक सीमा तक कोई अन्तर नहीं है । उनके लिये भी ब्रह्म व्यापक, बिरज, अनीह और अभेद है । वेदांतियों की तरह एक जगह वह कहते हैं, "सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा । दीपसिखा सोइ परम प्रचंडा ॥" निर्गुनिये संतों की तरह वह कहते हैं, "सून्य भीति पर चित्र उरेहे, तनु बिन लिखा चितेरे ।" "द्वैत जनित संसृति दुख" वह भी दूर करना चाहते हैं। तुलसीदास ने ये धारणाएँ प्राचीन भाववादी दर्शन से ली हैं। लेकिन इन स्थापनाओं पर उन्होंने अपनी तरफ से जो टीका टिप्पणी की है, वह मूल स्थापनाओं को काफी बदल देती है। वह टीका टिप्पणी ध्यान देने योग्य है।

गोस्वामी तुलसीदास नाम और रूप को ब्रह्म की दो उपाधियाँ मानते हैं। इनमें भी वह रूप को नाम के अधीन मानते है । उनका कहना है कि नाम के बिना रूप का ज्ञान नहीं होता।

"देखिअहिं रूप नाम आधीना । रूप ज्ञान नहिं नाम बिहीना ।
रूप बिसेष नाम बिनु जाने । करतलगत न परहिं पहचाने ॥"

नाम के माने भाषा, तुलसी के सिद्धांत का परिणाम यह निकलता है कि ज्ञान भाषा से परे नहीं है। वाणी और अर्थ की एकता को घोषणा करते हुए वह कहते हैं, "गिरा अरथ जल बीचि सम, कहिअत भिन्न न भिन्न ।" भाव-वादी दर्शन, ज्ञान को भाषा से स्वतंत्र मानता है; वस्तुवादी दर्शन दोनों की एकता मानता है। तुलसीदास की स्थापना भाववादी दर्शन के प्रतिकूल है।

नाम के बिना निर्गुनपंथियों को भी निर्गुन ब्रह्म का पता नहीं लगता, इसलिए अगुन और सगुन के बीच तुलसीदास नाम की साखी मानते हैं। नाम

के बिना ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता, इसलिये वह नाम को ब्रह्म से भी बड़ा मानते हैं, "कहेउँ नाम बड़ ब्रह्म राम तें।" सच्चिदानन्द ब्रह्म नाम-निरुपण से ही प्रकट होता है। इस तरह ब्रह्म को नाम से बाँध कर, नाम को ब्रह्म से भी बड़ा दिखाकर गोस्वामी जी ने ब्रह्म की अगोचरता पर प्रतिबन्ध लगा दिया है। वास्तव में उनका सारा दर्शन ब्रह्म की गोचरता पर निर्भर है, इसीलिये संसार में उसकी "लीला" उनके लिये इतनी आकर्षक हो जाती है।

गोस्वामी तुलसीदास ने कई जगह माया की चर्चा की है लेकिन उससे यह नतीजा निकालना कठिन होगा कि वह संसार को मिथ्या मानते थे। उल्टा वह उन लोगों को फटकारते हुए दिखाई देते हैं जो संसार को मिथ्या कहते हैं। अपनी व्यंग्यपूर्ण शैली में वह कहते हैं,—

"झूठो है झूठो है झूठो सदा जग,
संत कहंत जे अंत लहा है।
ताको सहै सठ संकट कोटिक,
काढ़त दंत करंत हहा है।
जानपनी को गुमान बड़ो,
तुलसी के बिचार गँवार महा है।
जानकी जीवन जान न जान्यो,
तौ जान कहावत जान्यो कहा है।"

संसार को मिथ्या कह कर जो लोग अपने ज्ञान की डींग हाँकते हैं, उन्हें स्पष्ट शब्दों में तुलसी ने गँवार कहा है। यहाँ वह अपने समय के सभी संतों से आगे बढ़े हुए हैं क्योंकि किसी ने इतनी स्पष्टता से मायावाद का खण्डन नहीं किया। यहाँ वह वस्तुवादी जीवन दर्शन के बिल्कुल निकट हैं।

हिन्दी साहित्य में जो भाववादी लेखक संसार को मिथ्या कह कर जनता का ध्यान अतीन्द्रिय ज्ञान, अन्तर्चेतना आदि की तरफ ले जाना चाहते हैं, उनकी प्रतिक्रियावादी विचारधारा का विरोध करने में तुलसी की विश्वासभरी वाणी हमें आज भी प्रेरणा देती है।

तुलसीदास की रचनाओं में बहुत से देवी देवता मिलते हैं। उनका ऐसा सजीव चित्रण हुआ है कि पाठक यही समझता है कि गोस्वामी जी इन सब के

अस्तित्व पर विश्वास करते होंगे। लेकिन वह "व्यापकु एक ब्रह्म अविनासी" में भी विश्वास प्रकट करते थे और जहाँ अविनासी ब्रह्म एक है, वहाँ अनेक देवी-देवताओं का अस्तित्व भ्रम ही हो सकता है।

वास्तव में देवताओं को अपना काव्यविषय बनाते हुए तुलसीदास ने पुराणों में बताई हुई उनकी रूपरेखा में काफी फेरफार किया है। उनका उद्देश्य स्पष्ट है, भिन्न मतवालों को राम की भक्ति के आधार पर एक करना। निर्गुण और सगुणवादियों को वह नाम के आधार पर एक करते हैं। शैवों, शाक्तों और वैष्णवों को एक करने के लिए शिव को राम का प्रेमी, सीता को जगदम्बा का अवतार आदि कहते हैं। तामिलनाड के मन्दिरों में जैसे विष्णु और शक्ति की मूर्तियाँ एक साथ दिखाई देती हैं, वैसे ही रामचरितमानस में शैव, शक्ति और वैष्णव तीनों को संतुष्ट करने की सामग्री दी गई है। बहुदेवोपासना का यह रूप लौकिक व्यवहार से ही निश्चत हुआ है। कृष्ण के उपासकों के लिये उन्होंने कृष्ण गीतावली भी लिख दी। उनके समय में जातीय आन्दोलन की जो धारा एकता की तरफ बह रही थी, भिन्न मत वालों के इष्ट देवों के साथ यह उदार व्यवहार उसी का प्रतीक है।

लेकिन तुलसी-साहित्य का मूल्य इससे अधिक है। तुलसी की भक्ति मानववाद में डूबी हुई है। यह कवि मनुष्य का सबसे बड़ा उपासक है। तुलसी ने प्राचीन महाकाव्यों की मानववादी परम्परा को आगे बढ़ाया है। "न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्" पर रामचरितमानस मानों सजीव भाष्य है। अनेक बार तुलसी ने भक्त को भगवान से बड़ा बतलाया है, इससे अधिक वह मानव प्रेम का प्रमाण क्या दे सकते थे? जब भरत चित्रकूट जाते हैं तब बादल उन पर छाया करते चलते हैं, शीतल हवा चलती है और राम को भी मार्ग वैसा सुखद नहीं होता जैसे भरत को। और अन्त में वह स्पष्ट कह देते हैं, "मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम तें अधिक राम कर दासा।"

राम के प्रति तुलसी का सेवक भाव है। दरिद्रता और सामाजिक उत्पीड़न के बीच तुलसी राम की तरफ हाथ उठाते हैं, कितनी व्यथा के साथ, यह कवितावली और विनयपत्रिका के अनेक पदों में देखा जा सकता है। ऐसी पीड़ा, ऐसा उत्कट आत्मनिवेदन हिन्दी साहित्य में और कहीं प्रकट नहीं हुआ।

तुलसीदास जानते थे "नहिं दरिद्रसम दुख जग माहीं।" उन्होंने अनुभव किया था, "आगि बड़वागि ते बड़ी है आगि पेट की"। उन्होंने राम से प्रार्थना की थी कि दरिद्रता के रावण ने संसार को दबा रखा है, आकर रक्षा करो,— "दारिद दसानन दबाई दुनी दीनबन्धु दुरित दहन देखि तुलसी हहा करी।" इसीलिये वह इतना व्यथित होकर राम से कहते हैं, "तुम जनि मन मैलो करो, लोचन जनि फेरो।"

लेनिन की मृत्यु पर स्तालिन ने कहा था, "अतीत काल में बीसियों नहीं सैकड़ों बार श्रमिक जनता ने कोशिश की है कि अपनी पीठ से उत्पीड़कों को उतार फेंके, और अपनी भाग्य डोर अपने हाथ में ले। लेकिन हर बार परास्त और अपमानित होकर उसे पीछे हटना पड़ा है, हृदय में क्षोभ और लाञ्छन, क्रोध और निराशा भरे हुए उसने किसी रहस्यमय दैव की तरफ हाथ उठाये हैं जहाँ से उसे मुक्ति की आशा थी।"

राम की तरफ़ तुलसी के सेवक भाव पर जैसा प्रकाश इन पंक्तियों से पड़ता है वैसा, आलोचना की बीसियों पोथियों से नहीं पड़ता। राम उनके लिये आशाओं का केन्द्र बन गये, अपमान और लाञ्छन का मुक़ाबला करने के लिये एक अस्त्र बन गये। जब वह लोगों को दूसरों के सामने हाथ फैलाते देखते हैं तो वे मना करते हैं,

"जग जांचिये कोऊ न जांचिये तो
जिय जांचिये जानकी जानहिं रे।"

राम उनके लिये "दारिद दोष दवानल हैं" जो औरों के सामने जांचना ख़त्म कर देते हैं। इसी तरह वे ललकारते हुए दिखाई देते हैं, "जनि डोलहि लोलुप कूकर ज्यों तुलसी भजु कोसलराजहिं रे।" जब वह सामन्तों को गजशाला और पत्नीशाला से सुशोभित अपनी सम्पत्ति पर गर्व करते देखते हैं तो कहते हैं, "ऐसे भये तो कहा तुलसी जुपै जानकीनाथ के रंग न राते।"

तुलसी के राम उनकी आशाओं के केन्द्र ही नहीं हैं, मनुष्य में वह जिन तमाम नैतिक गुणों को प्यार करते थे, उनके प्रतीक भी थे। ब्रह्म रूप में भले ही वह निर्गुण निर्विकार हों, मानवरूप में वह किसी देश काल की सीमाओं में गतिशील समाज के मानव का ही प्रतिबिंब हो सकते हैं। तुलसी के राम भार-

तीय जनता के नैतिक गुणों का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनके चरित्र में पितृ-भक्ति, भ्रातृप्रेम आदि पर बारबार लिखा गया है लेकिन तुलसीदास का लक्ष्य परिवार में पिता के अधिकार की रक्षा करना न था। राम की मानवीय सहानुभूति माता, पिता, भाई, निषाद सभी के लिये है। विशेषता यह है कि जो जितना त्यागी है, निःस्वार्थ है और दलित है, राम का प्रेम उसके लिये उतना ही अधिक है। भरत और निषाद पर उनका प्रेम इसी कारण है। यह प्रेम पारिवारिक संबन्धों पर ही निर्भर नहीं है; उसका आधार व्यापक सामाजिक संबंध हैं। समाज में दुखी-दीनों और निःस्वार्थ सेवकों को कोई न पूछे, राम उन्हें पूछने वाले हैं।

तुलसी के राम न्याय अन्याय के संघर्ष में तटस्थ नहीं हैं। वह न्याय का सक्रिय पक्ष लेते हैं। लक्ष्मण के मुकाबले में वह ज्यादा धैर्य दिखलाते हैं लेकिन उनके धैर्य की एक सीमा है। वह सीमा पार होने पर वह शस्त्र उठाने में जरा भी आगा पीछा नहीं करते। यह गुण हमारी जनता का विशेष गुण है। वह बड़ी सहनशील है लेकिन एक सीमा तक ही। उस सीमा के पार होने पर वह अन्यायी को दंड देने के लिये उठ खड़ी होती है। रासलीला वाले कृष्ण की अपेक्षा तुलसी को धनुर्धर राम अधिक प्रिय हैं, इसका यही कारण है, "राजिव नयन धरे धनुसायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक।"

जब परशुराम का क्रोध सीमा पार कर जाता है, तब राम उन्हें दृढ़ चेतावनी देते हैं :—

> "देव दनुज भूपति भट नाना। समबल अधिक होइ बलवाना।
> जौं रन हमहिं प्रचारै कोऊ। लरहिं सुखेन काल किन होऊ।"

भारतीय जनता में जो कुछ सबसे अच्छा है, जो रक्षा करने लायक है और जिस पर हम गर्व कर सकते हैं, वह इन पंक्तियों में प्रकट हुआ है। राम की इस धीरता और शूरता का चित्रण करके तुलसी ने हमारे जातीय चरित्र को गढ़ने में अनुपम प्रतिभा का परिचय दिया है।

इसी तरह जब समुद्र राम को रास्ता नहीं देता, समझाने और विनती करने पर भी नहीं पसीजता, तब तुलसी कहते हैं :

"विनय न मानत जलधि जड़, गए तीन दिन बीति।
बोले राम सकोप तब, भय बिनु होय न प्रीति ॥
संधाने प्रभु बिसिख कराला।
उठी उदधि उर अंतर ज्वाला।"

इसी तरह रावण का अन्याय देखकर पहले दूत द्वारा राम उसे समझाने की कोशिश करते हैं लेकिन जब वह नहीं मानता, तब उसका हृदय परिवर्तन करने के लिये वह सत्याग्रह नहीं करते, उससे युद्ध छेड़ देते हैं। राम का सारा चरित्र आत्मपीड़ा द्वारा निष्क्रिय प्रतिरोध का खंडन करता है। कहना न होगा, यह बहुत ही महत्वपूर्ण नैतिक मूल्य है जिसे हमें अपनाना चाहिये।

रामचरितमानस में, विशेषरूप से अयोध्याकाण्ड में जो वेदना का सागर लहराता हुआ दिखाई देता है, वह सामन्ती समाज में मनुष्य की वास्तविक पीड़ा से ही उत्पन्न हुआ है। माता-पिता से बिदा होती हुई लड़कियां, घर में पुत्र वियोग सहती हुई माता आदि के चित्र तुलसी ने समाज से ही लिये हैं। लेकिन इस करुणा में भी सुख सौंदर्य की चाह बादलों में बिजली की तरह कौंध जाती है। तुलसी का व्यंग्य और हास्य भारतीय जनता की कभी न मिटने वाली ज़िन्दादिली से पैदा हुआ है। वह कठिनाइयों पर हँसना जानती है, जब कठिनाई बढ़ जाती है, तब व्यंग और भी पैना हो जाता है। क्रोधी परशुराम के सामने लक्ष्मण का व्यंग, रावण की सभा में राक्षसों से घिरे हुए अंगद का व्यंग्य इसी तरह का है। तुलसी का व्यंग्य अन्याइयों अत्याचारियों के लिये है; दलितों और पीड़ितों के लिये, स्त्रियों और बालकों के लिये उनके हृदय में केवल सहानुभूति है। राम के बालरूप का वर्णन करके, कौशल्या और भरत के प्रेम का वर्णन करके एक तरफ वह हमारी मानवीय सहानुभूति को और निखारते हैं, तो राम के चरित्र से वह शूरता और धीरता के भावों को पुष्ट करते है। इस तरह तुलसी मानव आत्मा के एक कुशल शिल्पी साबित होते हैं।

तुलसी की मानवीय सहानुभूति का आधार सामाजिक यथार्थ है। तत्कालीन समाज का जैसा भरापूरा चित्र उनकी रचनाओं में मिलता है, वैसा उस समय के और किसी कवि की रचनाओं में नहीं मिलता। जनता की दरिद्रता, उसके क्लेशों का वर्णन उन्होंने बड़े ही यथार्थवादी ढंग से किया है, "खेती न

किसान को भीखारी को न भीख बलि बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।" बड़ी स्पष्टता से उन्होंने समाज में सामन्तों के कुशासन का सवाल उठाया है। एक दोहे में वह देवताओं और राजाओं को स्वार्थी बतलाते हुए कहते हैं कि एक को बलि से मतलब है, दूसरे को कर से;

"बलि मिस देखे देवता, कर मिस मानव देव।
मुए मार सुविचार-हत, स्वारथ-साधन एव॥"

राजा और प्रजा के संघर्ष में तुलसी प्रजा के साथ हैं। रामचरितमानस में वह प्रजा को सतानेवाले राजाओं के लिये कहते हैं :

"जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। ते नृप अवसि नरक अधिकारी।"

और भी, दोहावली में वह उन राजाओं के पतन की भविष्यवाणी करते हैं जो प्रजा को सताते हैं—

"राज करत बिनु काज ही करैं कुचालि कुसाज।
तुलसी ते दसकंध ज्यों, जइहैं सहित समाज॥"

तुलसी ने दुष्ट राजाओं की निन्दा ही नहीं की, भारतीय जनता की आशाओं को मूर्त रूप देते हुए समता के आधार पर एक सुखी समाज की कल्पना भी की है।

"अल्प मृत्यु नहि कवनिउ पीरा।
सब सुन्दर सब बिरुज सरीरा।
नहि दरिद्र कोउ दुखी न दीना।
नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥"

यह सुखी समाज स्वर्ग में नहीं बना वरन् इसी जीवन में, इसी धरती पर बना है। तुलसी का रामराज्य स्वर्ग में नहीं, अवध में है और राम कहते हैं:—

"जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। बेद पुरान बिदित जग जाना।
अवध सरिस प्रिय मोहिं न सोऊ। यह प्रसंग जाने कोउ कोऊ॥"

तुलसीदास ने एक सुखी समाज की कल्पना ही की थी जिसमें दरिद्रता विषमता मिट गई हो। अब हम अपनी आंखों से देख रहे हैं कि मनुष्य अपने प्रयत्न से ऐसा समाज रच सकता है। तुलसीदास का स्वप्न श्रमिक जनता के लिये

एक धरोहर है जिससे प्रेरित होकर वह समाजवाद के लिये मंजिल दर मंजिल बढ़ती जायगी।

तुलसी का मानव प्रेम उनकी कविता का स्रोत है। उनके लिये साहित्य न तो सामन्तों के मनोरंजन का साधन है, न निरुद्देश्य प्रयोग है। वह ऐसे साहित्य के पक्षपाती हैं जो जनता का हित करे—

"कीरति भनिति भूति भल सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई।"

इसलिये उनकी कविता अलंकारशास्त्र के उदाहरण पेश करने के लिये नहीं रची गई; वह प्रेम और आनन्द की नदी की तरह बह चलती है। लेकिन रोमाण्टिक कवियों की तरह तुलसीदास कविता को स्वतःस्फूर्त प्रवाह नहीं मानते। उसमें विचार और चिन्तन का योग होता है। उन्होंने एक सुन्दर रूपक में विचारों के महत्व की ओर यों संकेत किया है —

"हृदय सिंधु मति सीप समाना।
स्वाती सारद कहहिं सुजाना॥
जो बरखै बर बारि बिचारू।
होंहिं कबित मुक्ता मनि चारू॥"

तुलसीदास की यह स्थापना साहित्य के प्रति सामन्ती विचारधाराओं से ही लड़ने में मदद नहीं देती, वह पूंजीवादी साहित्यसिद्धान्तों से भी लड़ने में मार्गदर्शन करती है। कला कला के लिये या सामाजिक उत्तरदायित्व से मुक्त होकर प्रयोग करने की स्वाधीनता की गुहार मचानेवाले साहित्यकारों का दिल टटोलिये। हृदय सिंधु की जगह इनका दिल सड़े हुए पानी से भरी हुई गड़ही की तरह है; उसमें जनता से प्रेम के बदले देश की तरफ से उदासीनता और सम्राज्यभक्ति के बगूले उठते हैं। ये लोग "फार्म" की रट लगाकर साहित्य में उच्चकोटि के विचारों के महत्व को अस्वीकार करते हैं। इनकी मति सीप के समान नहीं है जिससे मोती निकले, वह घोंघे की तरह है जो सेक्स के लिये मुँह फैला कर फिर अपने अन्दर सिमट जाता है। जन संस्कृति, ग्राम गीतों, प्राचीन साहित्य से इनकी सरस्वती नहीं जाग्रत होती, न विदेश के जनवादी लेखक इन्हें अच्छे लगते हैं, इनकी प्रेरणा का स्रोत एजरा पउंड, टी० ऐस० इलियट,

स्पेंडर आदि लेखक हैं जो जन-शिविर के विरोधी हैं। ऐसे लेखकों का विरोध करना, जनता के हित में अपनी संस्कृति का विकास करना उन तमाम साहित्य-कारों का कर्तव्य है जो तुलसी की विरासत पर गर्व करते हैं।

यहां मेरा उद्देश्य तुलसी के सभी विचारों का मूल्याङ्कन करना या उनकी कला का विवेचन करना नहीं है। मेरा उद्देश्य वर्णाश्रम, नारी समस्या, राजा-प्रजा सम्बन्ध को लेकर कुछ वामपंथी लेखकों में फैली हुई गुमराहियों का निराकरण करना है। कोई भी लेखक अपने समय के सामाजिक यथार्थ को गहराई से देखे और अपनी रचनाओं में उसे प्रतिबिम्बित किये बिना महान् साहित्यकार नहीं हो सकता। तुलसी का साहित्य उनके विचारों को अलग करके महत्वपूर्ण नहीं माना जा सकता।

तुलसी के समय का सामाजिक यथार्थ क्या है? उनके समय का सामाजिक यथार्थ जर्जर होती हुई सामन्ती व्यवस्था है। तुलसी इस व्यवस्था के रक्षक नहीं हैं। और सामन्तों के उत्पीड़न के विरुद्ध उनकी सहानुभूति साधारण जनों और स्त्रियों के साथ है। उन्होंने स्वयं इस उत्पीड़न का अनुभव किया था। इसलिये यह धारणा कि तुलसी नारी की पराधीनता के हामी थे, ब्राह्मणों के खिलाफ़ शूद्रों की बग़ावत में वह ब्राह्मणों के साथ थे, उनके समूचे साहित्य के अध्ययन से सही साबित नहीं होती।

तुलसी की भक्ति समाज के लिये अफ़ीम नहीं थी। वह जन-जागरण का एक साधन थी। भक्त तुलसीदास मूलतः मानववादी हैं और उनके साहित्य की महत्ता वास्तविक सामाजिक सम्बन्धों का वर्णन करने में है, जनसाधारण की वेदना और उससे मुक्ति की कामना का, जनता के नैतिक गुणों का चित्रण करने में है, न कि सेवक भाव से कृपा की भिक्षा माँगने में।

तुलसी का ब्रह्मवाद, बहुदेवोपासना, "स्वान्तस्तमः शान्तये" रचना करना एक धार्मिक आवरण है जो सामन्ती व्यवस्था के भीतर पुष्ट होने वाले जातीय आन्दोलनों पर पड़ा हुआ दिखाई देता है। यह आवरण मूल्यवान नहीं है; मूल्यवान है वह सामाजिक तत्व जो उसके भीतर छिपा हुआ है।

तुलसी हमारे जातीय जन-जागरण के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। उनकी कविता की आधार शिला जनता की एकता है। मिथिला से लेकर अवध और ब्रज तक

चार सौ साल से तुलसी की सरस वाणी नगरों और गाँवों में गूँजती रही है। हमारी जातीय एकता और उसके पुनर्जीवन का काम अभी अधूरा है। साम्राज्यवाद, सामन्ती अवशेष और बड़े पूंजीपतियों के शोषण से हिन्दी भाषी जनता को मुक्त करके उसकी जातीय संस्कृति को विकसित करना है। हमारे जातीय संगठन के मार्ग में साम्प्रदायिकता, ऊँचनीच के भेद भाव, नारी के प्रति सामन्ती शासक का रुख आदि अनेक बाधाएं हैं। तुलसी का साहित्य हमें इनसे संघर्ष करना सिखाता है। तुलसी का मूल सन्देश है, मानव प्रेम। मानव प्रेम को सक्रिय रूप देना सहानुभूति को व्यवहार में परिणत करके जनता के मुक्ति-संघर्ष में योग देना हर देशभक्त का कर्तव्य है।

तुलसी का साहित्य कला की शिक्षा देने के लिये अक्षय निधि है। उनसे हमें बार-बार सीखना चाहिये, कैसे उनकी वाणी जनता को इतनी गहराई से आन्दोलित कर सकी। उनसे हमें गंभीर मानव सहानुभूति और उच्च विचारों की शिक्षा लेनी चाहिये जिनसे साहित्य महान् होता है।

तुलसी की ऐतिहासिक सीमाओं की बात करके माफ़ी माँगने की ज़रूरत नहीं है। ज़रूरत है तुलसी पर गर्व करने की, इस बात पर दृढ़ विश्वास करने की कि जिस जाति ने तुलसी को जन्म दिया है वह अजेय है, इस बात पर रोष करने की कि तुलसी की सन्तान आज संसार की सबसे पिछड़ी हुई, बिखरी हुई, निर्धन और दलित जातियों में से है। जिस सामन्ती व्यवस्था ने तुलसी जैसे सहृदय कवि को अपार कष्ट दिये थे, उसकी तरफ कभी तटस्थ न रहना चाहिये। जनता की एकता हमारा अस्त्र हो, संघर्ष हमारा मार्ग और ऐसा समाज हमारा लक्ष्य हो जिसमें पीड़ित और अपमानित मनुष्य को हताश होकर रहस्यमय दैव की तरफ फिर हाथ न उठाना पड़े। इस कार्य में एक चिरंतन प्रेरणा की तरह तुलसीदास हमेशा हमारे साथ रहेंगे।

हिंदी-उर्दू विवाद और हमारी जातीय भाषा के विकास की समस्या

१—हिन्दी भाषा की प्राचीनता

२० जून सन् '५० के रूसी पत्र प्रावदा में भाषाविज्ञान और मार्क्सवाद के बारे में स्तालिन का लेख प्रकाशित हुआ। दुनिया के भाषा विज्ञान को उससे एक नयी दिशा में बढ़ने की प्रेरणा मिली। अपनी जातीय भाषा के विकास को समझने, ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की भाषा सम्बन्धी कूटनीति का पर्दाफ़ाश करने में उस लेख से हमें बड़ी मदद मिलती है।

इस लेख में स्तालिन ने बतलाया है कि भाषा का कोई वर्ग-आधार नहीं है। पूंजीपतियों की एक भाषा हो, मज़दूरों की दूसरी,—ऐसा नहीं होता। न भाषा किसी आर्थिक व्यवस्था के आधार पर बनी हुई इमारत है जो व्यवस्था के बदलते ही ढह जाय। इतिहास में ऐसा नहीं होता कि फ्रांस की राज्यक्रान्ति से फ्रांसीसी भाषा बदल जाय या रूसी क्रान्ति से रूसी भाषा बदल जाय। हाँ, वर्गों के व्ययवहार में आने वाली भाषा की शैलियों में भेद हो सकता है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में पात्रों की विशेषता के हिसाब से इस तरह का शैली भेद दिखाई देता है। और पैदावार का तरीक़ा जब बदलता है, तब नये-नये शब्द भाषा में आकर उसे समृद्ध भी करते हैं। गाँव का किसान जब हल छोड़कर कारखाने में काम करता है, तब उसके शब्दों का खजाना पहले से अधिक बढ़ जाता है। क्या भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के ज़माने से हिन्दी में कितने ही नये शब्द नहीं आ गये, लेकिन भाषा में कोई बुनियादी तब्दीली नहीं हुई।

तब हिन्दी भाषा कितनी पुरानी है? १६ वीं सदी में इसके गद्य का विकास हुआ लेकिन भाषा उससे भी पुरानी है। १६ वीं सदी से पहले उसका

गद्य ही नहीं मिलता, पद्य भी मिलता है। उसके सहारे हम १३ वीं १४ वीं सदी तक पहुँचते हैं। हिन्दी भाषा के इतिहासकार ६ वीं १० वीं सदी तक उसका जन्मकाल खींच ले जाते हैं। लेकिन नवीं या दसवीं सदी में हमारे यहाँ सामन्ती व्यवस्था थी जो सैकड़ों साल से फलफूल कर अब जर्जर हो रही थी। अगर स्तालिन की यह बात सही है कि भाषा एक से अधिक समाज-व्यवस्थाओं की सेवा करती है तो हिन्दी भाषा को न सिर्फ उतनी पुरानी होना चाहिये जितनी कि सामंती व्यवस्था है, बल्कि उससे पहले की दास-व्यवस्था में भी उसका वजूद होना चाहिये। इस तरह साम्राज्यवादी भाषा-वैज्ञानिकों ने हिन्दी के लिये जो जन्मकाल तय किया है, वह सही नहीं ठहरता। उन्होंने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश वगैरह की इतनी मंज़िलें गिनाई हैं जितनी मंज़िलें हमने सामाजिक विकास में भी तै नहीं की। हिन्दी भाषा के जन्मकाल को इतनी मंज़िलों के बाद रखने का एक कारण सामंती और साम्राज्यवादी भाषा-शास्त्रियों में आम जनता की तरफ घृणा का भाव भी था। यह बात उनकी कल्पना ही में न आती थी कि हल और चर्खा चलाने वाली जनता की भाषा भी इतनी प्राचीन हो सकती है। स्तालिन के लेख की रोशनी में हिंदी भाषा के जन्मकाल के बारे में प्रचलित धारणाओं को बुनियादी तौर से बदलना होगा, इसमें संदेह नहीं।

आधुनिक भाषाओं की प्राचीनता के बारे में स्तालिन कहते हैं—

"हम यह मान लें कि आधुनिक भाषा के मूल तत्व अति प्राचीन काल ही में, दासता के युग से पहले मौजूद थे। यह बहुत कुछ सादी भाषा थी, जिसका शब्द भण्डार बहुत ही न्यून था, लेकिन जिसकी अपनी व्याकरण-व्यवस्था थी—यह सच है कि यह व्यवस्था आदिम थी, फिर भी वह थी व्याकरण-व्यवस्था ही।"

इसका मतलब यह है कि हिन्दी भाषा के मूल तत्व आदिम साम्यवादी व्यवस्था में मौजूद थे, यानी ऋग्वेद की रचना से भी पहले हमारी भाषा हिंदी के मूल तत्व मौजूद थे। उस समय भी उसकी व्याकरण-व्यवस्था का वजूद था, भले ही वह एक आदिम रूप में रही हो।

स्तालिन की शिक्षा हमारी भाषा के इतिहास को और गौरवशाली बनाती है,

वह हमारे जातीय अभिमान को और सजग करती है और आज की इस ग़रीबी और भुखमरी की जिन्दगी से मुक्ति पाने के लिये ज़बर्दस्त प्रेरणा देती है।

२—जातीय भाषा के रूप में हिन्दी का प्रसार

जातीय भाषा बनने से पहले हिन्दी या खड़ी बोली एक जनपद की भाषा थी। ब्रज, अवध, बुंदेलखंड आदि जनपदों में ब्रज, अवधी, बुंदेलखंडी आदि भाषाएँ बोली जाती थीं। इन जनपदों के रहने वाले छोटी-बड़ी रियासतों में बँटे हुए थे। वे सब किसी जाति में संगठिन न हुए थे और इसीलिये एक जातीय भाषा के रूप में उनके पास आपसी व्यवहार की कोई भाषा न थी। कुछ पढ़े लिखे लोग संस्कृत से काम चलाते थे लेकिन उसे आम जनता न तो समझती थी, न बोलती थी।

तब के समाज की दो विशेषताएँ ध्यान देने योग्य हैं। एक तो यह कि समाज चार वर्णों में बँटा हुआ था जिनके अन्तर्गत सैकड़ों जात-बिरादरियाँ थीं। दूसरी यह कि गाँव बहुत कुछ खुदमुख्तार थे; ऊपर से आँधी तूफ़ान निकलते रहें, ये छोटे-छोटे पंचायती राज अपनी जगह बदस्तूर क़ायम रहते थे।

१३ वीं १४ वीं सदी में सामन्ती समाज का यह ढाँचा ढीला पड़ने लगा था, वर्ण व्यवस्था शिथिल हो रही थी और लोग अपने खानदानी पेशे छोड़ कर नये पेशे अपनाने लगे थे। तुर्कों के हमलों से यह ढाँचा और कमज़ोर पड़ा हालाँकि उसे तोड़ने वाली ताकतें उसके भीतर ही पैदा हो रही थीं। तिलक जो हिन्दी और फ़ारसी दोनों जानता था और अबुल हसन और महमूद ग़ज़नवी की सेवा में रहा था, एक नाई का लड़का था। रहूप नाम का एक बनिया परिहार राजा से क़िला छीनकर इल्तमश से लड़ा था (केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, खंड, ३, पृ० ५३)। गुजरात में तगी चमार ने दिल्ली के बादशाह के खिलाफ़ विद्रोह की अगुआई की। हेमू, जिसने अकबर का मुक़ाबला किया था, बनिया था। अकबर का चित्रकार दसवन्त कहार था। रामानन्द के शिष्यों में कबीर जुलाहा, रैदास चमार और सेना नाई थे।

कबीर के उत्तराधिकारी धरमदास बनिया थे। दादू के लिये कहा जाता है कि वह मोची थे। उनके शिष्य सुंदरदास बनिया थे और मलूकदास खत्री थे। इस तरह की और भी मिसालें दी जा सकती हैं। इससे नतीजा यही निकलता है कि संस्कृति पर अब ब्राह्मण पुरोहितों का इजारा न रह गया था; राज्य और धरती पर क्षत्रियों का अधिकार ढीला पड़ रहा था।

तुर्क बादशाहों ने बाजार, तौलने के बाँट, सिक्कों आदि के बारे में जो सुधार किये, उससे सौदागरों को फ़ायदा पहुँचा। इस ज़माने में नयी-नयी मंडियाँ और नये-नये शहर आबाद हुए। फीरोज़ तुग़लक के लिये कहा जाता है कि उसने फीरोज़ाबाद, फतहाबाद, फीरोज़पुर, बदायूँ, जौनपुर आदि शहर बसाये। शेरशाह के ज़माने में पटना शहर फिर व्यापार का केन्द्र बना। उसके समय में जो सड़कें और नहरें तैयार हुईं, उनसे व्यापार बढ़ा। शेरशाह ने सरायें बनवाईं, धार्मिक उदारता की नीति बरती, और खास बात यह कि राज्य और किसान के बीच सीधा सम्बन्ध क़ायम किया। पहले गाँव का मुखिया मालगुजारी तै करता था, उसका वह हक़ छिन गया। इस तरह एक तरफ़ तो सौदागरी और व्यापार के केन्द्रों के तौर पर शहर बढ़ती पर थे, दूसरी तरफ़ गाँवों की खुद मुख्तारी पर पाबंदी लगी। अकबर ने बारूद के महत्व को समझा। राज्य में शान्ति क़ायम रखने के लिये उसने ख़ास तौर से बारूद का भरोसा किया। सामन्ती युग के तीर-कमान और तलवार पुरानी चीजें बनते जा रहे थे। अकबर ने सारे राज्य में एक सी मुद्रा-व्यवस्था चलाकर व्यरपार की बढ़ती में मदद की। तनख़ाह के लिये उन्होंने जागीरें दी। लेकिन मालगुजारी वगैरह तै करने का हक़ जागीरदारों को नहीं दिया। कभी-कभी उन्हें जागीर से दूर भी तैनात कर देते थे। इस तरह सामन्तों और जागीरदारों की ताक़त कम हुई। धार्मिक मामलों में अकबर ने उदार नीति बरती।

मुगल बादशाहों को खुद भी व्यापार से दिलचस्पी थी। अकबर खुद व्यापार करता था। लखनऊ युनिवर्सिटी के डाक्टर पंत के अनुसार गुजरात, आगरा और काशमीर के बढ़िया उद्योगों का इज़ारा उसके अपने हाथ था। शाहजहाँ ने नील का व्यापार अपने हाथ में रखा था और मनोहर दास को राज्य से उधार रक़म देकर व्यरपार करने की आज्ञा दी थी और मुनाफे में

हिस्सा लेता था। नूरजहाँ भी नील और ज़री के वस्त्रों के व्यापार से दिलचस्पी रखती थी। बादशाहों के भाई-भतीजे—सौदागरी से धन कमाते थे। मुगल राज्यसत्ता की आमदनी का ज़रिया सिर्फ जमीन न थी, बल्कि व्यापार भी था।

व्यापार की इस उन्नति से पुराने जनपदों का अलगांव दूर हुआ। पटना, बनारस, इलाहाबाद, आगरा और दिल्ली ऐसे केन्द्र बन गये जिनके चारों तरफ एक कौमी बाज़ार कायम हुआ। मानरीके के अनुसार सन् १६४० में आगरे की आबादी छः लाख थी। मार्क्स ने भारतीय इतिहास पर अपने नोटों में लिखा है कि अकबर के ज़माने में दिल्ली दुनिया का सबसे बड़ा शहर था। जो नया बाजार कायम हुआ, उसके सबसे बड़े केन्द्र आगरा और दिल्ली ही थे।

ब्रिटेन में हिंदुस्तानी कपड़े की माँग बढ़ने से यहाँ का रोजगार और चमका १७ वीं सदी के पहले हिस्से में आगरे से विलायत कपड़ा भेजाजाता था और यह कपड़ा अवध से बन कर आता था। इस तरह ब्रज और अवध एक बाजार में संगठित हुए। खुद अवध में दरियाबाद और खैराबाद अपने उद्योगों के लिये मशहूर हुए। इसी तरह पटना, बनारस, लखनऊ वगैरह ने आसपास के देहातों को अपनी तरफ समेटा और उनका पुराना अलगाव बहुत कुछ दूर किया। फ्रान्सीसी यात्री बर्नियर ने जिन मुगल कारखानों का जिक्र किया है, मुमकिन है कि वह पूंजीवादी पैदावार की पहली मंजिल रहे हों। बहरहाल जुलाहों को सौदागर पेशगी रुपया देते थे और उनसे तैयार माल लेते थे। पेशगी लेने पर जुलाहा अपने माल पर अधिकार खो देता था। पेशगी के जरिये सौदागर उसकी श्रम-शक्ति खरीद लेता था। यह पैदावार का पूँजीवादी तरीका था। सन्१८४४ में एंगेल्स ने अपनी पुस्तक "इङ्गलेंड के मजदूर वर्ग की हालत" में लिखा था, "मशीनें चालू होने से पहले कच्चे माल को कातने और बुनने का काम मज-दूर के घर पर होता था।" सत्रहवीं सदी में यह सिलसिला यहाँ भी कायम था। लेनिन ने मिखाइलोव्स्की को जवाब देते हुए बतलाया था कि सत्रहवीं सदी में आपसी विनिमय की बढ़ती से, बिकाऊ माल के चलन के धीरे धीरे तेज होने से, और छोटे छोटे बाजारों के एक बड़े बाजार में सिमटने से रूसी जाति का

निर्माण हुआ। १७ वीं सदी में इसी तरह हमारे यहाँ भी हिन्दुस्तानी जाति का निर्माण शुरू हुआ था।

भाषा और साहित्य के क्षेत्रमें हम जनपदों का एक दूसरे के नज़दीक आना और उनका अलगाव दूर होना देखते हैं। रामचरितमानस अवधी में लिखा जाता है, लेकिन ब्रज, भोजपुरी आदि के इलाकों में भी यह अपनाया जाता है। यही नहीं, गोस्वामी जी ब्रज और अवधी दोनों में कविता करते हैं और उनकी भाषा में एकसे अधिक बोलियों के शब्द और प्रयोग देखे जा सकते हैं। उधर ब्रजभाषा की कविताएं—मीरा, सूर, रसखान और रहीम की रचनाएँ—दूर देहात तक पहुँच रही थीं। खड़ी बोली में भी खुसरो, कबीर आदि रचनायें करने लगे थे। रहीम ने किसी को खड़ीबोली में ही गाते सुनकर लिखा था—झुकझुक मतवाला गावता रेखता था।

दक्खिन में खड़ीबोली का अलग विकास हुआ, गद्य और पद्य दोनों में। यह प्रदेश मुख्यतः तेलगू भाषी था और खड़ीबोली वहाँ कम तादाद के लोगों की भाषा थी। उत्तर की भाषा पर उसका असर कुछ देर से पड़ा।

शहरों में व्यापार और विनिमय के लिये किस भाषा का उपयोग होता था? यह भाषा खड़ीबोली या हिन्दी थी। इसका सबसे बड़ा सबूत यह है कि देश-विदेश के जो लोग कामकाज के लिए दिल्ली या आगरा आते थे, वे इसी भाषा को सीखते थे। ग्रियर्सन ने लिखा है कि "उन दिनों के कुछ अंग्रेज सौदागर निःसंदेह धड़ल्ले से हिन्दुस्तानी बोल सकते थे..." (लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया, खंड १, पृ० २)। और इतिहासकार सरदेसाई ने लिखा है कि इतालवी यात्री मनुची ने शिवाजी से, बिना किसी दुभाषिये की मदद के, उर्दू में बातचीत की। फारसी के दबाव की वजह से यह भाषा पहले पहल दक्खिन में फली-फूली।

स्तालिन ने मार्क्सवाद और भाषा-विज्ञान वाले लेख में बतलाया है कि वर्गयुक्त समाज में जब दो भाषाएँ बोलने वाले लोग मिलते हैं, तब उनसे मिल कर कोई नयी भाषा पैदा नहीं होती। हिन्दुस्तान में भी जो तुर्क, पठान, ईरानी उज़बक आदि जातियों के लोग आये, वे यहाँ किसी नयी भाषा को जन्म न दे सके। उनके बहुत से शब्द यहाँ वालों ने ले लिये, उनके प्रत्यय लगाकर कुछ नये

शब्द भी गढ़े—जैसे चमकदार, पागलखाना, अफीमची (और पिछले दिनों जङ्गबाज़ वगैरह)। लेकिन हमारी भाषा की व्याकरण-व्यवस्था, उसके मूल शब्द भण्डार में कोई भारी तब्दीली नहीं हुई। तुर्कों, पठानों, ईरानियों, उजबकों आदि के आने से पहले भी हिन्दी भाषा थी, उनके हिन्दुस्तानी बन जाने के बाद भी रही। इसलिये बादशाहों के लश्करों में नयी ज़बानें गढ़ने की कल्पना साम्राज्यवादी-सामन्ती दिमाग़ों की उपज है।

बाहर से आने वाले लोगों के शब्दों से हमारी भाषा और समृद्ध हुई लेकिन उसने अपने जातीय रूप की रक्षा की। भाषा के बारे में शेरशाह और अकबर की नीति अँगरेजों की तरह अनुदार नहीं थी। शेरशाह ने तो फ़ारसी के साथ हिन्दी में कामकाज करने की हिदायत दे रखी थी।

ब्रजभाषा, अवधी, खड़ीबोली, आदि सभी ने हिन्दुस्तानी जाति के निर्माण में मदद दी। हमारी जाति का चरित्र संघर्षों द्वारा और पक्का हुआ। इन संघर्षों के दो पहलू थे, एक तो जातीय, दूसरा जनवादी। यानी एक तरफ तो यहाँ के लोग विदेशी आततायियों के खिलाफ लड़े, दूसरी तरफ वे सामंती उत्पीड़न के खिलाफ, वर्ण-व्यवस्था और पुरोहितों-सामन्तों के विशेष अधिकारों के खिलाफ भी लड़े। भक्ति-आन्दोलन में ये दोनों पहलू मौजूद हैं। जुलाहे और किसान इस आन्दोलन को शक्ति देने वाले हैं। सौदागर उसके सहायक हैं, हिन्दू और मुसलमान, सूफी और संत दोनों उसमें शामिल हैं। भक्ति आंदोलन एक जातीय और जनवादी आन्दोलन है। क्या उस समय हिन्दुओं और मुसलमानों की दो संस्कृतियाँ थी? कुछ धार्मिक भेदभाव जरूर था लेकिन दो संस्कृतियाँ नहीं थीं। जायसी, रसखान, रहीम, आलम, शेख, पजनेस वगैरह की वही संस्कृति थी जो सूर, मीरा, तुलसी, नन्ददास, दादू, रैदास आदि की थी। यह संस्कृति जातीय और जनवादी थी, इसीलिये कबीर को हिन्दू और मुसल्मना दोनों अपनाने के लिये तैयार थे। दरबारों की संस्कृति अलग थी। मुगलराज्यसत्ता इस जनवादी संस्कृति को आश्रय देने वाली न थी।

हिन्दुस्तानी जाति ने सामन्ती ढाँचा खत्म करके अपना जातीय राज्य, जिसका सारा काम फ़ारसी के बदले हिन्दी में होता, क्यों कायम नहीं किया?

इसके कई कारण हैं। यहाँ के सौदागरों और जुलाहों को दो तरह के विरोध का सामना करना पड़ा, एक तो सामन्ती, दूसरा विदेशी शासन का। सौदागरों ने जातीय राज्यसत्ता कायम करने के बदले अक्सर विदेशी हुकूमत से मेल जोल बढ़ाकर अपना वर्गहित साधा। जुलाहों और किसानों ने विदेशी हुकूमत से टक्कर लेकर जातीयता की रक्षा की। उन्होंने सामंतों से सङ्घर्ष करके अपनी संस्कृति के जनवादी तत्वों की रक्षा की और उन्हें विकसित किया। इसके अलावा जब तक पुरानी चाल के घरेलू उद्योगों के बल पर ही सौदागरी पूँजी बढ़े, तब तक सामन्ती ढाँचा पूरी तरह टूटता नहीं है। मशीनों के जरिये बड़े उद्योग धंधे चालू होने पर ही वह ढाँचा टूटता है।

हिन्दुस्तान के लोग सामन्ती ढांचा खत्म करके अपनी जातीय राज्यसत्ता कायम कर लेते लेकिन तभी अंग्रेजों की दखलंदाजी से उनकी ऐतिहासिक प्रगति में बाधा पड़ी।

३ अँग्रेजी राज और जातीय भाषा के विकास में बाधाएँ

१६ वीं सदी में चर्खे और हल का समन्वय तोड़ते हुए अंग्रेजों ने हिन्द प्रदेश को अपने अधिकार में किया। हिन्दुस्तान में ऐसी परिस्थितियां थीं जिनसे फायदा उठाकर उन्होंने भाषा और संस्कृति के मामलों में दखल देना और यहां के लोगों में फूट डालना शुरू किया।

महाराष्ट्र, आन्ध्र, बंगाल, पंजाब आदि में वे परिस्थितियां न थीं जो हिंदी भाषी इलाके में थीं। महाराष्ट्र में शिवाजी एक जातीय रियासत कायम कर चुके थे। वैसी कोई कोशिश यहां न हुई थी। शिक्षा का कोई मिलाजुला जातीय क्रम निश्चित न था, मुल्ला-पंडितों के हाथ में अब भी शिक्षा की जिम्मेदारी थी। इस धार्मिक शिक्षा की वजह से दो लिपियों का प्रयोग होता था और भाषा की एकता के हिसाब से एक ही लिपि का सब जगह चलन न था। मुगल साम्राज्य के उखड़ने के बाद नवाबों के अड्डे ज्यादातर हमारे इलाके में रहे। बंगाल, महाराष्ट्र, आन्ध्र, वगैरह इनसे अपेक्षाकृत मुक्त रहे। हैदराबाद में उर्दू के असर से तेलगू भाषा में कुछ तब्दीली हुई, लेकिन उस हद तक नहीं कि तेलगू में हिन्दी-उर्दू की तरह दो धाराएं बह चलें।

अंग्रेजों ने जिस अलगाव से फायदा उठाया और उसे गहरा बनाया, वह यहां की धार्मिक शिक्षा और सामन्ती पिछड़ेपन की वजह से था। बहुत से राज-दर्बारों में ब्रज भाषा के आगे नयी जातीय भाषा हिन्दी की पूछ न थी; नवाबों के यहां खड़ी बोली के लोकप्रिय रूप और जनवादी कविता की क़द्र न थी। इस तरह खड़ी बोली में दो धाराएं चल निकलीं—एक तो लोकप्रिय धारा, दूसरी सामन्तों के आश्रय वाली धारा। कुछ कवियों ने साधारण भाषा के शब्दों के बहिष्कार की नीति अपनाई जिससे उनकी शैली बोलचाल की भाषा से अलग मालूम होने लगी।

अंग्रेजों ने इस भेद को और गहरा किया। गिलक्राइस्ट ने हिन्दुओं और मुसलमानों की अलग भाषाओं के सिद्धान्त की रचना की। रिज़ले ने धर्म के आधार पर दो कौमें गढ़ीं और ग्रियर्सन ने भाषा और संस्कृति के क्षेत्र में फूट के उसूल को धार्मिक रूप दिया। सर सैयद ने लश्करों में नयी भाषा बनने की तजवीज पेश की। इकबाल ने मुस्लिम कौम और मुस्लिम संस्कृति का नारा लगाया। "आज की राजनीति" में राहुल जी ने ऐलान किया कि मुसलमानों ने राष्ट्रीय जीवन में हिस्सा ही नहीं लिया। ये सब साम्राज्यवादी विषवृक्ष के फल थे।

अंग्रेजों के राज में गांवों की पुरानी व्यवस्था तो टूटी लेकिन उन्होंने सामन्तवाद और सामन्ती संस्कृति को मजबूत भी किया। इसी जर्जर सामन्ती संस्कृति पर उन्होंने अपनी तहजीब का ताज रखा। हिन्दी भाषी इलाके को उन्होंने कई सूबों में बांटा, यहां ताल्लुकदारों और नवाबों को पाला पोसा, और भाषा के मामले में जातीय उत्पीड़न का एक नया तरीका निकाला। कभी हिन्दुओं को दबाया, मुसलमानों को उभारा, कभी हिन्दुओं को उभारा और मुसलमानों को दबाया। कचहरी-अदालत और पुलिस में वह जबान चलाई कि किसान कभी समझ ही न सके और उसे ठगने और लूटने में उन्हें आसानी हो। इस तरह एक तरफ उर्दू की धारा बही, दूसरी तरफ हिन्दी की। फिर भी भाषा के बुनियादी शब्दों और मूल व्याकरण-व्यवस्था के बिना कोई भी धारा आगे न बढ़ सकती थी।

हिन्दी-उर्दू का भेद १६ वीं सदी से पहले नगण्य है। १६ वीं सदी में

अंग्रेजी राज क़ायम होता है और तभी यह भेद गहरा होता है। इसलिये उस भेद के लिये सबसे ज्यादा अंग्रेज ही ज़िम्मेदार हैं। अगर सूफियों और सन्तों की परंपरा ज़िम्मेदार होती तो इस तरह की दो धाराएं बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात वगैरह में भी बहती दिखाई देतीं। वहां नहीं दिखाई देतीं, यह इस बात का प्रमाण है कि हिन्दी-उर्दू का भेद अस्थायी है जो जनता के स्वाधीनता आन्दोलन की बढ़ती के साथ कम होते होते मिट जायगा। आखिर अभी सौ साल भी तो इस खाईं को नहीं हुए!

हिंदी भाषी इलाके में सामन्ती अवशेष कायम रख कर, हिन्दी-उर्दू के सवाल से साम्प्रदायिकता उभार कर, एक ही भाषा की दो धाराएं बहाकर और दोनों पर अंग्रेजी लादकर, आम जनता को अशिक्षित रखकर अंग्रेजों ने हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक विकास को भारी नुकसान पहुँचाया है।

फिर भी हर जगह उनकी मनचीती नहीं हुई। हिन्दुस्तानी जनता ने आसानी से उनका जुआ स्वीकार नहीं किया। १८५७ में दिल्ली, मेरठ, कानपुर, झांसी आदि शहरों के, अवध, भोजपुरी, बुन्देलखन्ड आदि जनपदों के वीरों ने अंग्रेज़ों के दांत खट्टे कर दिये। अगर अंग्रेजों को हिन्दुस्तानियों से ही मदद न मिलती तो देश का इतिहास ही दूसरा होता। हमारे साहित्यकारों ने जनवादी संस्कृति की परंपरा को निबाहा। हिन्दी-उर्दू के लेखकों के सहयोग को अंग्रेज खत्म नहीं कर पाये। भारतेन्दु, प्रताप नारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, जो आधुनिक हिन्दी के निर्माता हैं, उर्दू के भी लेखक थे। प्रेमचन्द ने उस परंपरा को और आगे बढ़ाया।

४ माउंटबाटन योजना और भाषा-समस्या का नया रूप

कांग्रेस और लीग के नेताओं ने क्रान्तिकारी जन आन्दोलन का तो विरोध किया, लेकिन साम्राज्यवादियों की स्वाधीनता-योजना स्वीकार की। भारतीय जनता से भय खाकर अंग्रेजों ने अपना झंडा और अपनी फौज तो हटा ली लेकिन अपने पूंजीवादी पंजे देश में और भी गड़ा दिये।

अंग्रेजी पूंजी का हित इस बात में है कि बंटवारे के बाद कायम की हुई दोनों रियासतें आपस में लड़ें या उनमें तनातनी रहे जिससे कि लोगों का

ध्यान छिपे हुए लुटेरों की तरफ न जाय। इसके लिये उन्होंने दंगे कराये, कश्मीर की लड़ाई कराई और साम्प्रदायिक दलों के जरिये तनातनी कायम रखी।

साम्प्रदायिकता से फायदा उठा कर पाकिस्तान के शासकों ने वहां की भाषाओं को दबाया और उन पर उर्दू लादी। हिन्दुस्तान के साम्प्रदायिकों ने कहा कि अब तो उर्दू पाकिस्तान गयी और उसकी यहां बात करना भी राष्ट्र-द्रोह है। राजर्षि टंडन और महापंडित राहुल ने इस विषैले प्रचार का नेतृत्व किया। उत्तर भारत के सूबों में हिन्दी ठीक ही राजभाषा घोषित की गई लेकिन उर्दू के व्यवहार और शिक्षा आदि में तरह-तरह के अड़ंगे लगाये गये।

हिन्दी के कुछ लेखक इस परिस्थिति को सन्तोषजनक समझते हैं। लेकिन उर्दू को दबाने से हमारी जातीय भाषा के विकास में बाधा पड़ती है, इसलिये इस परिस्थिति को सन्तोषजनक कैसे कहा जा सकता है? उर्दू में लोकप्रिय साहित्य का बहुत बड़ा हिस्सा मौजूद है। उसमें बोलचाल के मुहावरों का निखरा हुआ रूप ही नहीं है, हमारी भाषा और साहित्य का इतिहास उसके बिना अधूरा रहेगा। इसलिये अपनी कौम के सांस्कृतिक इतिहास के लिये, अपनी जातीय भाषा के विकास के लिये हम उर्दू के दबाने का विरोध करते हैं। बालमुकुन्द गुप्त, पद्मसिंह शर्मा और प्रेमचन्द की हिन्दी में कितनी उर्दू शामिल है, इसे साहित्य का हर विद्यार्थी जानता है। लेकिन हिन्दी को संस्कृत गर्भित करने वाले सज्जन उस परंपरा को मिटा रहे हैं। इसमें हिन्दी भाषा और साहित्य का ही नुक्सान है। बालमुकुन्द गुप्त पर मेरा एक लेख पढ़कर श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने मुझे लिखा है—"प्रेमचन्द और गुप्त जी की परंपरा का Point बहुत बढ़िया सूझ है—सवा सोलह आने सत्य, पर अब तो वह परंपरा नष्ट सी हो रही है। उर्दू को हिन्दी की एक शैली बिना माने हम लोग अपनी भाषा का अंग-विच्छेद कर देंगे। 'लक्कड़तोड़' हिन्दी कर्णकटु ही बनी रहेगी।"

अगर बालमुकुन्द गुप्त और प्रेमचन्द की परंपरा नष्ट हो रही है, तो किसी भी हिन्दी लेखक के लिये यह सन्तोष की बात नहीं हो सकती। अपनी भाषा का अंग विच्छेद करने से वही खुश हो सकते हैं जो भाषा के दुश्मन हैं।

कांग्रेसी नीति के खिलाफ उर्दू के कुछ लेखकों ने विधान की सहायता लेते हुए इलाकाई जबान का सवाल उठाया है। हिन्दी से अलग उर्दू का कोई अलग इलाका नहीं है; हालांकि उर्दू या हिन्दी को अपनी एकमात्र साहित्यिक भाषा समझने वाले लोग हैं। इसलिये उर्दू के पढ़ने-पढ़ाने और उसे व्यवहार में लाने में जो भी बाधाएं आती हैं, उन्हें दूर करने के लिये आवाज बुलन्द करना सभी जनवादियों का फर्ज है। उसे अलग इलाकाई जबान मानना गलत है।

हिन्दी भाषी इलाके की जनता के सामने मुख्य सवाल विदेशी पूंजी के शोषण से मुक्ति पाने का है, किसानों की हालत सुधारने का है। यहां के जन-आन्दोलन के लिये किसानों में शिक्षा का सवाल भाषा की समस्या के साथ जुड़ा हुआ है। किसानों को आम शिक्षा किस लिपि में दी जाय? अगर किसानों को एकजुट करना है, उनकी राजनीतिक चेतना को विकसित करना है, उनके आन्दोलन को स्वाधीनता-आन्दोलन की धुरी बना देता है तो आम शिक्षा के लिये दो लिपियां रखना नुक्सानदेह होगा। इसलिये मेरी अपनी राय है कि मजदूर वर्ग को देवनागरी लिपि के जरिये आम जनता में शिक्षा के प्रचार पर जोर देना चाहिये।

हिन्दी भाषी इलाके में कांग्रेसी नेताशाही दूसरे इलाकों के मुकाबले में ज़्यादा असर रखती है। जनता का असन्तोष तेजी से बढ़ रहा है। समस्या है, जनवादी शक्तियों को बिखरने न देकर उन्हें संगठित करके आगे बढ़ने की। इसके लिये यह जरूरी है कि हम "सब कुछ अपने आप ठीक हो जायगा"— इस धारणा को छोड़ दें। अपने आप दो लिपियां एक न हो जायंगी; अपने आप किसानों में शिक्षा का प्रचार न हो जायगा। इसके लिये एक तरफ उर्दू को दबाने का विरोध करना चाहिये, दूसरी तरफ नागरी लिपि के जरिये हिन्दी-उर्दू के लेखकों की चीजें जनता तक पहुँचानी चाहिये। बालमुकुन्द गुप्त, पद्मसिंह शर्मा, प्रेमचन्द हिन्दी-उर्दू के एक होने का सपना ही देख सकते थे। उसे सच करने का साधन आज गढ़ा जा रहा है—किसान-आन्दोलन के रूप में।

अंग्रेजों ने १८५७ से सबक लेकर हमारे इलाके को सबसे ज़्यादा टुकड़ों में

बांटा है। सदियों से एक साथ रहने वाले आगरा और दिल्ली भी अलग हो गये! हिन्दीभाषी इलाका एक होना चाहिये। इसके बारे में यह बहाना भी नहीं चल सकता कि बड़े सूबे को छोटे सूबे में हम बांटना चाहते हैं। यहां सवाल छोटे टुकड़ों को मिलाकर बड़ा सूबा बनाने का है। अलग-अलग प्रान्तीय सभायें और हुकूमतें चलाने का खर्च बचेगा, व्यापार और उद्योग-धन्धों की तरक्की में मदद मिलेगी। हमारा सांस्कृतिक आन्दोलन पूरे प्रदेश में जातीय पैमाने पर चलेगा और भाषा भी अपना जातीय रूप निखार सकेगी।

किसान-आन्दोलन की बढ़ंती के लिये यह आवश्यक है कि बोलियों में साहित्य रचा जाय। अभी भी वह रचा जा रहा है। लेकिन हर जनपद के लिये, अलग सूबा या प्रजातंत्र बनाने की मांग करना जातीय प्रदेश के बँटवारे को दूसरे रूप से कायम रखना है। उससे सावधान रहना चाहिये।

हिन्दीभाषी लेखकों का हित इस बात में है कि वे भाषावार प्रान्त निर्माण के आन्दोलन का समर्थन करें, दूसरों की मजी के खिलाफ उन पर हिंदी भाषा लादने का विरोध करें। इससे दूसरी भाषाओं के लोग उनकी जातीय एकता के आन्दोलन का समर्थन करेंगे। उन्हें इस भ्रम में कि संस्कृत-गर्भित होने से हिंदी दक्षिण में ज्यादा समझी जायगी, अपनी भाषा को बिगड़ने न देना चाहिये। संस्कृत-गर्भित हिंदी के पक्षपाती साहित्य-सम्मेलन ने दक्षिण भारत में हिंदी प्रचार का सबसे ज्यादा अहित किया है। वहां पर हिंदी का प्रचार किया है, 'दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा' ने जिसकी नीति सम्मेलन से भिन्न है। लेकिन उसके काम का श्रेय लेना चाहते हैं राजर्षि टंडन जी!

हिंदीभाषी इलाका भारत का सबसे बड़ा इलाका है। संख्या के लिहाज से हिन्दुस्तानी जाति दुनियां की तीन-चार सबसे बड़ी जातियों में गिनी जायगी। ऋग्वेद और महाभारत की रचना इसी प्रदेश में हुई है। यहीं की नदियों के किनारे वाल्मीकि और तुलसी ने अपने अनुष्टुप और चौपाइयां गाई हैं। तानसेन और फैयाज़ खॉं, हाली, मीर, अकबर, गालिब, भारतेन्दु, प्रेमचन्द, निराला यहीं के रत्न हैं। ताजमहल और विश्वनाथ के मंदिर यहीं के हाथों ने गढ़े हैं। आल्हा और कजली ने सैकड़ों साल तक यहीं का आकाश गुंजाया है। अठारह सौ सत्तावन में यहीं की धरती हिन्दुओं और मुसलमानों के खून से

सींची गई है। जिस दिन यह विशाल हिंद प्रदेश एक होकर नये स्वाधीन जन-जीवन का निर्माण करेगा, उस दिन इसकी संस्कृति एशिया का मुख उज्ज्वल करेगी। किसानों और मजदूरों की एकता जो जनता के संयुक्त मोर्चे की मुख्य शक्ति है, वह दिन निकट लायेगी। हिंदी और उर्दू के लेखकों को इस जनता के हितों को ध्यान में रखकर अपनी जातीय परंपराओं के अनुसार लोकप्रिय भाषा और जनवादी साहित्य के विकास में आगे बढ़ना चाहिये।

मैथिली और हिंदी

मैथिली स्वतन्त्र भाषा है या हिन्दी की बोली ?

इस प्रश्न पर दो मत हैं। एक मत यह है कि वह स्वतन्त्र भाषा है और दूसरा मत यह है कि वह हिन्दी की बोली है।

यह प्रश्न आज की सामाजिक परिस्थितियों में विशेषरूप से महत्त्वपूर्ण हो गया है। सारे देश में भाषा के आधार पर प्रान्त बनाने की माँग उठ रही है। आन्ध्र की जनता ने इस माँग के लिए जोरदार आन्दोलन करके आंशिक सफलता पायी है। पंजाब में इसके लिए आन्दोलन चल रहा है। मराठी, कन्नड़ आदि भाषाएं बोलने वाले लोग अपने जातीय इलाकों के पुनर्गठन की मांग कर रहे हैं। हिन्दीभाषी जनता ने अभी इस तरह की माँग सङ्गठित रूप से नहीं उठाई है; लेकिन निकट भविष्य में उस माँग का उठना अनिवार्य है।

हिन्दी-भाषियों में इस माँग के न उठने के अनेक कारणों में दो भाषा-सम्बन्धी कारण ये हैं—(१) उनका ध्यान जातीय पुनर्गठन की समस्या से हटा कर हिन्दी-उर्दू के विवाद में लगाया गया है; (२) हिन्दी-भाषी प्रदेशों की एकता के सवाल से ध्यान हटाकर, जनपदीय आन्दोलन के नाम पर, बोलियों के अलग-अलग और उनके इलाकों के स्वतन्त्र अस्तित्व की तरफ खींचा गया है।

ऐसी स्थिति में मैथिली स्वतन्त्र भाषा है या हिन्दी की बोली और मिथिला का स्वतन्त्र सूबा बनना चाहिए या उसे हिन्द प्रदेश का हिस्सा माना जाय, यह समस्या हमारे लिए खास तौर से विचारणीय है।

मैथिली का व्याकरण हिन्दी से भिन्न है। उसके शब्द-भण्डार में जहाँ बहुत से शब्द हिन्दी से मिलते-जुलते हैं, वहाँ काफी शब्द हिन्दी से भिन्न भी हैं। उसका अपना एक समृद्ध साहित्य है और मैथिली

में अभी भी गद्य-पद्य का साहित्य रचा जा रहा है।

लेकिन हिन्दी की दूसरी बोलियों का व्याकरण भी हिन्दी से भिन्न है। अवधी, ब्रज, भोजपुरी आदि का व्याकरण हिन्दी से भिन्न है। यह भिन्नता हम दूसरी भाषाओं और उनकी बोलियों में भी देख सकते हैं। मिसाल के लिए वेल्श और अंग्रेजी, प्रोवाँसाल और फ्रेञ्च, लहँदा और पंजाबी आदि का व्याकरण एक दूसरे से भिन्न है। इसलिए व्याकरण की भिन्नता से यह साबित नहीं होता कि मैथिली हिन्दी से स्वतन्त्र भाषा होनी ही चाहिए।

मैथिली की तरह ब्रज, अवधी आदि का शब्द-भण्डार हिन्दी से एक हद तक भिन्न है, वेल्श, प्रोवाँसाल, लहँदा आदि का शब्द-भण्डार भी अंग्रेजी, फ्रेञ्च, पंजाबी आदि से एक हद तक भिन्न है। यहाँ एक ध्यान देने की बात है कि मैथिली और हिन्दी की क्रियाएँ अधिकतर समान हैं। क्रियाओं की समानता मैथिली और हिन्दी की समानता का बहुत बड़ा कारण है। मैथिली के लिये अक्सर यह कहा जाता है कि वह बँगला के निकट है या कि वह हिंदी की अपेक्षा बँगला के निकट है। लेकिन बँगला की पचीसों क्रियाएँ, जो हिन्दी के लिये गैर हैं, मैथिली के लिये भी गैर हैं। इसलिए केवल धातु-रूपों में कुछ समानता होने पर मैथिली हिन्दी की अपेक्षा बँगला के अधिक निकट नहीं हो जाती। इस सिलसिले में मूल क्रियाओं के समूचे भण्डार पर नजर डालना आवश्यक होगा।

मैथिली में क्रियाओं के कुछ प्रयोग देखिये। ये उदाहरण डा० जयकान्त मिश्र की पुस्तक "मैथिली साहित्य का इतिहास" (अंग्रेजी) के दूसरे खंड से लिए गये हैं—

(१) ज्ञान श्रृङ्गारादि सम्बन्धी कविता पराकाष्ठा धरि पहुँचि गेल अछि। आब राष्ट्रीये विषयक कविताक प्रकाश होएब परमावश्यक अछि। कहवाक तात्पर्य जे अन्याय विषयक काव्यरस में हमर भारतवर्ष पूर्ण अवगाहित भए चुकल। (पृ० ६६)

(२) जानकि जननि देवि मिथले विजय हो। (पृ० १००)

(३) भगवन् हमर ई मिथिला सुख शान्ति केर घर हो। (उप०)

(४) शिव की सकितथि विष पचाए यदि लितथि न माथे।

जएतथि सिन्धु सुखाए बाड़वानलहिक हाथे ।
की न ठिठुरि हिमवान मरण शय्यागत रहितथि ।
यदि न अमरधुनि ! अहँक अमृत रस भाग्यें पिबतथि ।
शत-शत ज्वालामुखी मुख, जरि जैतथि भूदग्ध भए ।
जौं न जुड़वितन्हि सुधामयि, अहँक सुधाधिक विमल पय ॥ (पृ० १०४)

(५) जगतहित लए माथ मथि मथि हम स्वयं उन्मन रहै छी ।
संकलित कए कुसुम जग लए कंटक [क] बंधन सहै छी ।
हमर वीणाकेर आलोड़न सुनै अछि चाव सँ जग ।
किन्तु रे क्यों पहुँचि सकइत जौं हमर जर्जर हृदयलग ।
हम अपन क्रन्दनहुँ सँ जगक विनोद गान दै छी ।
भीख माङी, पटहु नहि भेटओ, मुदा हम उएह शंकर ।
सहि विषक अभिशाप अपने, सुधाधारक दैछ जे वर । (पृ० १०८)

(६) फाटल चीटल खड़की पहिरी रुख सुख रोटी फाँका अधार ।
अन्हरौखे सँ भरि साँझ कतहु श्रम करी श्रमिक छी हम बाबू ।
(पृ० १०६)

(७) तास सतरंज छोड़ू, भाङ केर गंज छोड़ू,
देखू निज काज धाज आब तिरहुतिया ।
जूम पर जूम छोड़ू, गप्प केर धूम छोड़ू,
बढ़बाक यत्न करू आब । (पृ० १०६)

(८) पुरजन परिजन सब छोड़ि छाड़ि
पहिलुक परिचय कैं तोड़ि ताड़ि
अहिवातक पातिल फोड़ि फाड़ि
हम जाय रहल छी आन ठाम ।
माँ मिथिले ! ई अन्तिम प्रणाम । (पृ० ११०)

(९) उठह कवि ! तों दहक ललकार कने
गिरि शिखर पर पथिक दल चढ़तैक रे । (पृ० ११०)

(१०) भोजनक विन्यास आ वाक्‌चातुर्य जनिका सिखबाक होइन्हि से तिरहुत आवि कऽ सीखथि । एहन सुन्दर सीटल गप्प, कटगर विनोद, सरस

परिहास आर कतय भेटत ? (पृ १२८)

इन उदाहरणों में पहुंचना, होना, कहना, चुकना, सकना, लेना, जाना, आना, ठिठुरना, रहना, पीना, जलना, जुड़ाना, करना, सहना, सुनना, देना, माँगना, भेंटना, पहनना, छोड़ना, देखना, बढ़ना, तोड़ना, फोड़ना, उठना, चढ़ना, सीखना, आदि हिन्दी की सामान्य क्रियाएँ हैं। इसलिए धातुओं की दृष्टि से मैथिली हिन्दी के बहुत ही निकट है।

साधारण शब्द भण्डार में सुख, शान्ति, घर, विष, माथा, हाथ, रस, जग, बंधन, चाव, हृदय, गान, विनोद, भीख, पट, वर, रूखी-सूखी, रोटी, साँझ, बाबू, ताश, शतरंज, भाँग, काज, गप्प, धूम, ठाम, प्रणाम, कवि, ललकार, भोजन इत्यादि शब्द हिन्दी के सामान्य शब्द हैं।

बोलचाल के शब्दों के अलावा जो गैर बुनियादी शब्द हैं, वे भी हिन्दी के सामान्य शब्द भण्डार में है। ज्ञान, शृङ्गार, कविता, पराकाष्ठा, विषय, प्रकाश, परमावश्यक, तात्पर्य, अवगाहित, जननी, विजय, सिन्धु, बाड़वानल, हिमवान, मरणशय्या, अमृतरस, ज्वालामुखी, भूदग्ध, सुधामयी, विमल, वय, संकलित करना, कुसुम, कंटक, आलोड़ना, जर्जर, अभिशाप, आधार, श्रम, श्रमिक, पुरजन, परिजन, परिचय, अन्तिम, गिरि, शिखर, विन्यास, वाक् चातुर्य, परिहास आदि शब्द हिन्दी के सामान्य शब्दभंडार के हैं।

इसलिए व्याकरण की भिन्नता होते हुए भी क्रियाओं और शब्दभंडार की दृष्टि से मैथिली हिन्दी के इतनी निकट है जितनी कि कोई बोली किसी भाषा के हो सकती है।

मैथिली का साहित्य समृद्ध है। ब्रजभाषा का साहित्य भी कम समृद्ध नहीं है। प्रोवाँसाल, लहँदा आदि का साहित्य भी समृद्ध है; लेकिन इससे ये बोलियाँ फ्रेंच और पंजाबी से स्वतन्त्र भाषाएँ नहीं हो जातीं।

मैथिलों को हिन्द-प्रदेश की जनता का ही एक अङ्ग बनाने में ब्रज, अवधी और खड़ी बोली के साहित्य ने महत्वपूर्ण भूमिका पूरी की है। मिथिला में सूर और मीरा के गीत वैसे ही गाये जाते रहे हैं, जैसे ब्रज या अवध में। वहाँ तुलसी की रामायण वैसे ही पढ़ी जाती रही है, जैसे भोजपुरी या बुन्देलखण्डी क्षेत्रों में। यह मिथिला और दूसरे जनपदों (ब्रज, अवध आदि) की जनता

की भाषागत और सांस्कृतिक एकता का प्रमाण है। ध्यान देने की बात है कि सूर, मीरा और तुलसी इस तरह बङ्गाल या पंजाब की जनता के कवि नहीं हुए। उन्होंने मिथिला के लोगों को एक ही जातीय संस्कृति की धारा में खींच कर जिन्दी जनता के जातीय संगठन और विकास में सहायता दी।

इस सिलसिले में डा० जयकान्त मिश्र ने मैथिल साहित्य के इतिहास में कुछ रोचक तथ्य दिये हैं। डॉ० मिश्र मैथिली को स्वतन्त्र भाषा मानते हैं; लेकिन उन्होंने क्रियाओं और शब्दभंडार की छानबीन करके यह नतीजा नहीं निकाला। मैथिली साहित्य के इतिहास से मिथिला और बाकी हिन्दी प्रदेश की जहाँ भी एकता सिद्ध होती थी, उससे उन्हें क्षोभ हुआ है। लेकिन सवाल क्षोभ या प्रसन्नता का नहीं है; सवाल है, ऐतिहासिक विकास की गति समझने का।

मिथिला में अवधी और ब्रजभाषा में रचे हुए भजनों के प्रचार का कारण बतलाते हुए डॉ० मिश्र ने लिखा है कि शुद्ध मैथिली में वैष्णव भजन प्रायः नहीं हैं और लोगों को जरूरत होती है तो दूसरी भाषाओं से उन्हें ले लेते हैं। उनका विचार है कि मैथिल वैष्णव अपने को सब बन्धनों से मुक्त समझता है, इसलिये शायद भजनों के लिए दूसरी जगह की भाषा को भी माध्यम मान लेता है। वह राम और कृष्ण की जन्मभूमि अवध और मथुरा की भाषाएँ अपनाता है।

मैथिल वैष्णव जितने बन्धन-मुक्त होते हैं, उतने ही बन्धनमुक्त बंगाली वैष्णव भी हो सकते हैं। लेकिन बंगाली वैष्णवों ने अवधी और ब्रज के भजनों से प्रभावित होते हुए भी उन्हें मैथिलों की तरह अपनाया नहीं। मैथिलों द्वारा ब्रज और अवधी के भजन अपनाने का कारण बन्धनमुक्ति नहीं है बल्कि शेष हिन्दी जनता से उनकी भाषागत और सांस्कृतिक समानता है।

साधारण जनता में किसी दूसरी 'भाषा' के भजनों का प्रचार होना असंभव सा है। भजन जैसी लोकप्रिय रचनाओं का चलन उन्हीं बोलियों के क्षेत्रों में हो सकता है, जो एक दूसरे के बहुत ही निकट हैं, जिनके बोलने वाले एक सामान्य जाति में घुलमिल कर एक हो रहे हों।

यदि अवधी और ब्रज की अपेक्षा बंगला मैथिली के ज्यादा निकट होती

तो मिथिला में बंगला के गीतों का ही चलन होता। भौगोलिक दृष्टि से बंगाल जहाँ मिथिला का पड़ोसी है, वहाँ ब्रज और अवध उससे कोसों दूर हैं। बंगला के वैष्णव भजनों के बदले मिथिला में ब्रज के भजनों का प्रचार मैथिली-हिन्दी जनता की बढ़ती हुई जातीय एकता के कारण ही संभव हुआ।

लार्ड कॉर्नवालिस द्वारा पक्का बन्दोबस्त चालू होने पर मिथिला में ब्रज साहित्य का प्रचार और भी बढ़ा।

महाराज राघवसिंह के बाद यानी १८ वीं सदी के उत्तरार्द्ध में ब्रजभाषा का प्रचार बढ़ा। मिथिला के अनेक कवि ब्रजभाषा में लिखते रहे। यह क्रम बीसवीं सदी तक चलता रहा। वास्तव में ब्रजभाषा और खड़ी बोली के विवाद में जब पद्य के लिए खड़ी बोली को माध्यम बनाने वाले जीत गये, तब मिथिला के कवि भी ब्रजभाषा छोड़कर पद्य के लिए खड़ी बोली अपनाने लगे। डॉ० मिश्र ने ब्रजभाषा में लिखने वाले कवियों में लोचन के अलावा, लक्ष्मीनरायण मैथिल, हलधरदास, बलबीर, सीताराम, मैथिल रमापति, शंकरदत्त, गुमान कवि, सोन कवि, हेम कवि, ईशा कवि, गोपाल, कृष्ण, लच्छिराम, चिरंजीव, लालदास, रघुनन्दनदास, हर्षनाथ झा, सोने कवि, गोपीश्वरसिंह, बुद्धिलाल, फतुरालाल, साहेबराम, लक्ष्मीनाथ आदि कवियों के नाम दिये हैं। ये कवि ब्रजभाषा में वैसे ही कविता करते थे जैसे अवध या भोजपुर के कवि।

मैथिल कवियों ने ब्रजभाषा में रचनाएं ही नहीं कीं, वरन् मैथिली में लिखते हुए उससे प्रभावित भी हुए। मिसाल के लिए एक लोकप्रिय कवि के गीतों को डॉ० मिश्र ने "Slightly contaminated by Brajbhasha बतलाया है (उप० पृ० ४३१) अर्थात् उसके गीतोंको थोड़ी बहुत ब्रजभाषा की छूत लग गयी थी। यही नहीं, १८ वीं सदी के उत्तरार्द्ध में तुलसी और सूर के अनुकरण पर गीत लिखना फैशन हो गया।

मिथिला में अवधी के प्रचार का एक कारण वहाँ अवधी बोलने वाले मुसलमानों का रहना था। डॉ० मिश्र ने ग्रियर्सन के एक लेख से जो उद्धरण दिया है, उसमें कहा गया है कि मिथिला के सभी मुसलमान मैथिली नहीं बोलते; उनकी बोली अवधी से मिलती-जुलती है (उप० पृ० ४१)। 'बिहारी' हिन्दी के सिलसिले में डॉ० मिश्र ने लिखा है कि इससे हिन्दुस्तानी के मिश्र

रूप का बोध होता है, जिसे बिहार के अवधी बोलने वाले मुसलमानों ने चालू किया है (उप० पृ० ५६)।

मिथिला में भोजपुरी का प्रवेश भी ध्यान देने योग्य है। डॉ० मिश्र के अनुसार किसी समय समूचा चम्पारन मिथिला में था। लेकिन अब वहाँ मध्यदेश की बोली या ब्रजभाषा का चलन हो गया है।

डॉ० मिश्र के अनुसार चम्पारन में भोजपुरी ने मैथिली की जगह ले ली; लेकिन इससे यह आश्चर्यजनक परिणाम निकाला गया है कि भोजपुरी मुख्य भाषा मैथिली की बोली है। यही नहीं, मगही भी मैथिली की बोली समझी जा सकती है और मगध विशाल मिथिला का अङ्ग बन जायगा। आश्चर्य यही है कि डॉ० साहब ने हिन्दी को भी मैथिली की बोली नहीं कहा और विशाल मिथिला में ब्रज और अवध को मिलाने का आग्रह नहीं किया। लेकिन मिथिला से बाहर डॉ० मिश्र ने भोजपुरी को पछाहीं बोली माना है और भोजपुरी प्रदेश को यू० पी० में मिला देने की सिफारिश की है (उप० पृ० ५७-५९)।

भोजपुरी के अलावा मगही की भी समस्या हैं जिसका सम्बन्ध खड़ी बोली से प्रायः वही है जो अवधी का। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने डा० मिश्र को यह सुझाव दिया था कि मैथिली का नाम छोड़कर बिहारी नाम अपनाने से मगही बोलने वाले उसकी तरफ ज्यादा आकर्षित होंगे। मैथिली और मगही दोनों से बिहारी भाषा बनेगी। इसके लिए पटना के मैथिल बुद्धजीवी मगही बुद्धिजीवियों से तुरन्त सम्पर्क कायम करें और दोनों मिलकर मगही-मैथिली को एक ही भाषा 'बिहारी' कहने लगें।

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने एक बहुत बड़े अगर की बात कही है—अगर मगहिये मैथिली को अपनी साहित्यिक भाषा मान लेते! लेकिन मगहिये बुद्धिजीवी खड़ी बोली का बराबर प्रयोग करते रहे हैं और उनका साथ देनेवालों में बहुत से मैथिली बुद्धिजीवी भी मिल गये। डा० चटर्जी को बिहार की भाषा-परिस्थिति पेचीदा मालूम होती है; उसे वह 'बिहारी' भाषा से हल करना चाहते हैं। बिहारी भाषा भी उनका आविष्कार नहीं है; इसका श्रेय स्वनामधन्य ग्रियर्सन को है। बिहार में मगही, मैथिली और भोजपुरी बोलियां

बोली जाती हैं और इनके बोलनेवाले राजनीतिक और सांस्कृतिक कार्यों के लिये अधिकाधिक खड़ी बोली को काम में लाते रहे हैं, यह ऐतिहासिक सत्य है। लेकिन पेचीदा परिस्थिति को खड़ी बोली द्वारा हल करने का यह तरीका कुछ विद्वानों को पसन्द नहीं है।

ऊपर इस बात का उल्लेख हो चुका है कि ग्रियर्सन के अनुसार बिहार के मुसलमान अवधीमिश्रित हिन्दुस्तानी का प्रयोग करते रहे हैं। १९ वीं सदी के उत्तरार्द्ध में मिथिला में उर्दू को राजभाषा का दर्जा दिया गया। पटना शहर ने हिन्दी के विकास में योग दिया और वह मैथिली का साहित्यिक केन्द्र न बन पाया। मैथिल के लिए देवनागरी लिपि का चलन हुआ। देवनागरी लिपि का चलन क्यों हुआ, यह बतलाते हुए डॉ० मिश्र ने एक कारण यह भी दिया है कि मिथिला में सरकारी और गैर सरकारी तौर पर उपन्यास, पत्रिकाएं और मनोरंजक साहित्य का चलन हिंदी में हुआ और मैथिली लिपि में उसका अभाव था।

किसी समय अवधी और ब्रज के भजन मिथिला में पैठ गये थे; वैसे ही नये ज़माने में वहां खड़ी बोली के साहित्य का प्रवेश हुआ। डॉ० मिश्र ने इस बात पर खेद प्रकट किया है कि देवनागरी ने मैथिल लिपि को पदच्युत कर दिया (लेकिन यह काम भी मैथिल-हिंदी जनता के जातीय विकास में सहायक हुआ)। डॉ० मिश्र इस बात से असंतुष्ट हैं कि हिंदी के विद्वानों ने विद्यापति को हिंदी का कवि मान लिया है। लेकिन मिथिला और शेष हिंदी प्रदेश के सांस्कृतिक संबंध देखते हुए उनका ऐसा न करना ही आश्चर्यजनक होता।

मैथिल कवियों की भाषा पर जैसे ब्रज का असर पड़ा था, वैसे ही खड़ी बोली का असर भी पड़ा। डॉ० मिश्र इस तरह के असर को दुर्भाग्य की बात समझते हैं। एक आधुनिक लेखक रघुनन्दनदास के 'सुभद्राहरण' काव्य का जिक्र करते हुए वह लिखते हैं—"Unfortunately, as in many of the words of Raghunandandas, the influence of Hindi is writ large in the language and the handling of the plot of this Kavya" (उप० दूसरा खंड, पृ० ८६)। लेकिन इसमें दुर्भाग्य की क्या बात है? ब्रज, अवधी, खड़ी बोली, मैथिली न जाने कब

से एक दूसरे को प्रभावित करती रही हैं और परस्पर प्रभावों को ग्रहण करके ही उनका साहित्य विकसित हो सका है।

मिथिला में नाटक हिंदी में रचे गये और खेले गये है। इनमें डा० मिश्र ने पारसी कम्पनियों के हिंदी नाटकों का जिक्र किया है (उप० पृ० ११५)। उन्होंने 'मिथिला नाटक' की भूमिका से जो उद्धरण दिया है, उसमें कहा गया है कि "मिथिलहु में त अनेक गोटे नाटक मण्डली" स्थिर कर शकुन्तला, हरिश्चन्द्र इत्यादि करैत छथि जाहि नाटक सबहित आधार हिन्दी भाषामय थोड़ मूल्यक किताबे होयत।" (उप० पृ० ११६)

मिथिला में हिन्दी नाटकों का चलन मैथिल-हिंदी एकता का दूसरा प्रमाण है।

मिथिला में हिंदी के चलन पर नागार्जुन के उपन्यासों में कुछ दिलचस्प बातें मिलती हैं।

दरभङ्गा मिथिला का सांस्कृतिक केन्द्र है। लेकिन वहाँ भी जन साधारण में खड़ीबोली का व्यवहार चलता है। बलचनमा, इसी नाम के उपन्यास में, दरभङ्गा के 'प्लाट फारम' पर लोगों का मुआयना करके कहता है, 'रूपरंग के साथ यहाँ लोगों की बोली भी बदली थी। यह काह-कुहे सुनने का पहिला मौका था मेरे लिए।" (पृ० ४५)। "काह कुहे" पर लेखक का नोट है— "का-को वाली बोली, हिन्दी-उर्दू"।

बलचनमा आगे कहता है, "अब तो मुझे भी इसी बोली की लत पड़ गई है। अपनी बोली भूलता जा रहा हूं। बबुनी की तो बात छोड़ो, चार बरष का मेरा ननकिरवा परदिपवा फर-फर हिंदी बोलता है।"

इससे सिद्ध होता है कि मिथिला के बुद्धिजीवियों ने ही हिंदी नहीं अपनायी, साधारण लोगों में भी बोलचाल के लिये हिंदी का प्रयोग बढ़ रहा है।

दरभंगा की तरह गया में लोगों की बोली के बारे में यथार्थदर्शी बलचनमा कहता है, "कुली भी पक्की बोली बोलते हैं। सिगरेट बेचने वाले भी काहे-कुहे करते हैं।" (पृ० १३४)

इससे यह साबित होता है कि मगध और मिथिला में जिस सामान्य

जातीय भाषा का प्रसार हो रहा है, वह हिंदी है। इससे पहले कि पटना के मगहिये बुद्धिजीवी डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी का फॉर्मूला मानकर बिहारी भाषा का चलन करें, गया के कुलियों और सिगरेट बेचने वालों ने पक्की बोली अपना ली है। यह पक्की बोली मगहियों और मैथिलों की जातीय भाषा ही नहीं है, वह उन्हें शेष हिंदी जनता से मिलाने का भी साधन है।

पटना की बोली पर बलचनमा की टिप्पणी यह है—"पटना की तरफ शहरूपन ज्यादा है। उधर जिसको रखना कहेंगे, इधर उसको हम धरना कहेंगे। उधर के लोग साफ जबान बोलते हैं। यहाँ गाड़ी में बाबू लोगों के मुँह से 'किहिस-दिहिस' निकलता है, तो उधर तुम लोगों के मुँह से 'किया दिया' सुनोगे।" (उप० पृ० १३४)

इसका मतलब यह है कि बिहार का सांस्कृतिक केन्द्र पटना है। वहाँ की हिंदी बिहार के दूसरे इलाकों के लिए आदर्श भाषा है। इस ऐतिहासिक क्रम को उलटकर मगही को मैथिल की बोली मानने और पटना को मैथिल का सांस्कृतिक केन्द्र बनाने का ख्वाब देखना बेमानी है।

नागार्जुन के दूसरे उपन्यास रतिनाथ की चाची में हम साधारण गृहस्थों के यहाँ तुलसी रामायण का पाठ होते देखते हैं (पृ० ३६)। रतिनाथ खुद ही नहीं पढ़ता, वरन् अक्षर-ज्ञान कराने के बाद अपनी चाची को भी रामायण पढ़ने लायक बना देता है (पृ० ६६)। 'रतिनाथ की चाची' में व्रजभाषा का यह गीत देहात में सुना जाता है, "जागहु हो बृजराज, लाज मोर राखहु हो बृजराज" (पृ० ६२)।

'नयी पौध' का दिगम्बर साहित्य-सम्मेलन की परीक्षा के लिए गाँव की लड़की शकुन्तला को हिंदी पढ़ाता है (पृ० ६५)। दिगम्बर के नाना अवधी और व्रज में कविता करते थे। दिगम्बर ने मीरा के पद मस्त होकर सुने हैं— "मीरा के वे अनमोल पद बहुधा दिगम्बर को अपनी लय में बहा ले जाते थे" (पृ०१११)। मीरा के गीतों के अलावा "चुपके-चुपके बोल मैना", "काली कमली वाले तुमको लाखों पर्नाम" आदि गीत भी वहाँ प्रचलित है। अदालत के नजदीक मिथिला के बुकसेलर हिंदी की ये किताबें बेचते हैं। "किस्सा तोता

मैना, किस्सा सवाचार यार; सत्यनाराण कथा, सुन्दर काण्ड रामायण (तुलसी दास)" (पृ० ६६) ।

इससे सिद्ध होता है कि मैथिल जनता के सांस्कृतिक जीवन पर बहुत कुछ उन्हीं रचनाओं का असर पड़ता रहा है जिनका असर अवध या ब्रज की जनता पर पड़ा है । निःसंदेह 'किस्सा तोता मैना' और 'किस्सा सवाचार यार' जैसे सस्ते मनोरंजक साहित्य ने भी मिथिला में खड़ी बोली के प्रचार में सहायता दी है ।

ऊपर के तथ्यों से हम ये परिणाम निकाल सकते हैं ।

मैथिल का व्याकरण हिंदी से भिन्न है; लेकिन इससे वह स्वतंत्र भाषा नहीं हो जाती । हिंदी की दूसरी बोलियों का व्याकरण भी हिंदी से भिन्न है । दूसरे देशों की भी भाषाएँ और उनकी बोलियाँ व्याकरण में भिन्न हैं । मैथिल और हिंदी की क्रियाएँ अधिकतर समान हैं । यह हिंदी-मैथिली समानता का बहुत बड़ा कारण है । इस कारण से हम मैथिली को बंगला की अपेक्षा हिंदी के अधिक निकट पाते हैं । मैथिली साहित्य में प्रयुक्त शब्द भंडार अधिकतर हिंदी के समान है । मैथिल साहित्य समृद्ध है जैसे ब्रज और अवधी का साहित्य समृद्ध है । साहित्य का समृद्ध होना उसका पृथक् अस्तित्व सिद्ध नहीं करता ।

मिथिला का साँस्कृतिक इतिहास यह साबित करता है कि वहाँ के लोग शेष हिंदी प्रदेश की जनता का ही अङ्ग है । मिथिला में ब्रज और अवधी के भजनों का प्रचार हुआ । मिथिला के पचीसों कवियों ने ब्रजभाषा में रचना की । मैथिल पर ब्रजभाषा का असर पड़ा । तुलसी और सूर के अनुकरण पर वहाँ सैकड़ों पद बनाये गये ।

मैथिल की पड़ोसी बोलियाँ—भोजपुरी और मगही—एक दूसरे से घुलती मिलती रहीं । उन पर हिंदी का असर पड़ा और उनके बोलने वालों ने जातीय भाषा के तौर पर हिंदी अपनायी । चंपारन में मैथिल की जगह भोजपुरी ने ली । मिथिला में मुसलमानों ने अवधी मिश्रित हिंदुस्तानी का चलन किया । मनोरंजक साहित्य का प्रसार हिंदी के माध्यम से हुआ । मैथिली पर हिंदी का असर पड़ा, बहुत से लेखक मैथिली छोड़ कर हिंदी में लिखने लगे या मैथिली और हिंदी में लिखते रहे, मिथिला में हिंदी नाटकों का यथेष्ट प्रचार हुआ ।

व्रजभाषा के गीत शहरी पढ़े-लिखों तक सीमित नहीं रहे, उनका प्रचार गाँवों तक में हुआ। गाँवों में तुलसी रामायण के साथ खड़ीबोली के सस्ते मनोरंजक साहित्य और हिंदी गीतों का प्रवेश भी हुआ। बिहार के शहरों की भाषा हिंदी है। गया, पटना और दरभंगा के कुली तक खड़ी बोली का प्रयोग करते हैं। ये सब तथ्य जातीय निर्माण में बोलियों के निकट आने के प्रमाण हैं।

सामाजिक विकास-क्रम में मिथिला का अलगाव टूट चका है। मिथिला की जनता सिमट कर विशाल हिंदी जनता की भागीरथी में शामिल हो रही है। बृहत्तर मिथिला के निर्माण का खयाल, मैथिली को स्वतन्त्र भाषा और मगही को उसकी बोली समझने का विचार, हिन्दी से अलग बिहारी भाषा की कल्पना (और हिंदुस्तानी जाति से अलग बिहारी जाति की कल्पना) आदि अवैज्ञानिक धारणाएँ हैं जो ऐतिहासिक विकास के प्रतिकूल सिद्ध होती हैं।

अब बिहार की राजभाषा हिंदी है। फिल्म, साहित्य, अखबारों आदि के जरिये हिंदी का प्रचार और भी बढ़ रहा है। राजनीतिक आन्दोलन मिथिला का अलगाव खत्म करके हिंदी के माध्यम से उसे बिहार के सार्वजनिक जीवन में खींच रहा है। इसका यह मतलब नहीं कि मैथिली की कोई उपयोगिता नहीं है। किसानों का सांस्कृतिक स्तर ऊँचा करने के लिए उसकी आवश्यकता आज भी है और बहुत दिनों तक आगे भी रहेगी। लेकिन इस काम में हिंदी भी हाथ बटा रही है, आगे और भी बटायेगी। हिंदी के मुकाबले में मैथिली का महत्व अब बोली का है और मिथिला में सामन्ती अवशेष खत्म होने पर, वहाँ उद्योग-धंधों की उन्नति होने पर, मैथिली का बोली मात्र रहना और भी स्पष्ट हो जायगा—मैथिलों की जातीय भाषा हिंदी और भी दृढ़ता से प्रतिष्ठित होगी।

इसलिए मिथिला के अलगाव का नारा छोड़कर हमें समूचे हिंदी भाषी प्रदेश को एक करने की कोशिश करनी चाहिए। मिथिला की उन्नति को मार्ग शेष हिंद प्रदेश से घुल मिलकर आगे बढ़ने में ही है। साहित्य और समाज का इतिहास इसी दिशा की ओर संकेत करता है।